श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १७५

महर्षिकणाद-विरचितं

वैशेषिक-दर्शनम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्या-विभूषितम्

व्याख्याकार:
श्रीनारायण मिश्रः

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१७५

महर्षिकणाद-विरचितं

वैशेषिक-दर्शनम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्या-विभूषितम्

व्याख्याकारः

श्रीनारायण मिश्रः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालये संस्कृतप्राध्यापकः

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

Pu[illegible]

[illegible]कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

[illegible]० चौखम्भा, पोस्ट बाक्स नं० ११३९

[illegible], के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय वि० सं० २०४३

मूल्य : रु० २०-००

फोन : ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पोस्ट बाक्स नं० १०८४

चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : ५४७६६

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
175
*****

THE

VAIŚEṢIKADARŚANAM

OF

MAHARṢI KAṆĀDA

With

The Hindi Commentary 'Prakāśa'

By

ŚRĪ NĀRĀYAṆA MIŚRA

Lecturer, Department of Sanskrit & Pali,

B. H. U., Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

Second Edition : 1987

Price : Rs. 20-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 54766

Printers :—

SRIGOKUL MUDRANALAYA

Gopal Mandir Lane

Varanasi-221 001

प्रस्तावना

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते[1]॥

वैदिक-काल से ही भारत-भूमि में दार्शनिक विचार की दो धाराएँ प्रवाहित होती आ रही हैं, जिन्हें हम 'द्वैत' तथा 'अद्वैत' कह सकते हैं। भारत के प्राचीनतम वैदिक-साहित्य में जहाँ एक ओर "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समाने वृक्षे परिषस्वजाते" का उपदेश मिलता है वहीं, दूसरी ओर, यह भी कहा गया है :—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥"

इन दोनों भावनाओं का विकास ब्राह्मण-ग्रन्थों, स्मृतियों, पुराणों तथा विभिन्न दार्शनिक-सम्प्रदायों द्वारा अविच्छिन्न रूप में होता रहा है। प्रस्तुत वैशेषिक-दर्शन भी द्वैत-धारा का ही एक अङ्ग है। यद्यपि इस दर्शन, या यों कहिए कि समस्त द्वैत-दर्शन, का पर्यवसान अद्वैत-प्रवाह में ही है तथापि उपदिश्यमान व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर ये विभिन्न द्वैत-सम्प्रदाय करुणामय महर्षियों द्वारा प्रतिष्ठापित किए गये हैं।

यह वैशेषिक-दर्शन उस विपर्यस्त पुरुष के उद्धार के लिए बनाया गया है जो इस संसार से सहसा विरक्त नहीं हो पाता है। इस दर्शन का कहना है कि सांसारिक द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से ही मनुष्य मुक्त होकर कृतकृत्य हो सकता है। इसलिये यदि मनुष्य हठात् वैराग्य में प्रवृत्त नहीं होता है तो कोई बात नहीं, पर यदि उसे सांसारिक विषयों का स्वरूप समझा दिया जाय तब उसके लिए उनसे विरत होना अत्यन्त साधारण काम है।

ऊपर इस दर्शन के मुख्य लक्ष्य का निर्देश हो चुका है। अब हमें इसकी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना चाहिए।

वैशेषिक-दर्शन के प्रतिष्ठाता

इस दर्शन के प्रतिष्ठापक परमर्षि के 'कणाद', काश्यप', 'उलूक', औलूक्य', आदि नाम पाये जाते हैं।

---

१. मनुस्मृति, ६.७४।

इनका नाम 'कणाद' क्यों पड़ा ?—इस विषय में मतमतान्तर नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

व्योमशिवाचार्य के अनुसार 'कणाद' शब्द का अर्थ निम्नलिखित है :—

"कणान् अत्तीति कणादः[1] तमिति विशिष्टाहार-निमित्तसंज्ञोपदर्शनेन असच्चोद्यनिरासः। तच्च 'कणान् वा भक्षयेत् कामं म (मा) हिषाणि दधीनि च' इत्यादि-युक्तिसिद्धम्।"

श्रीधराचार्य ने भी कुछ ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है। उनका कथन यह है :—

"कणादमिति,[2] तस्य कापोतिं वृत्तिमनुतिष्ठतः रथ्या-निपतितांस्तण्डुल-कणानादाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता संज्ञा। अत एव 'निरवकाशः कणान् वा भक्षयतु' इति उपालम्भः तत्र भवताम्।"

कुछ लोग[3] इनके 'परमाणुवाद' के आधार पर इन्हें 'कणाद' कहने के पक्ष में हैं। उनकी दृष्टि से 'कणाद' शब्द की निम्नलिखित व्युत्पत्ति हो सकती है :-

"कणान् = परमाणून्, अत्ति = सिद्धान्तत्वेन आत्मसात् करोति इति कणादः।"

व्योमशिवाचार्य ने तो कुछ व्युत्पत्तियों का खण्डन भी किया है। जैसे :—

"अन्ये तु[4] असच्चोद्य-निरासार्थम् कणान् ददाति इति दयते इति वा व्युत्पत्त्यन्तरमाश्रियन्ते ...... चिन्त्यमेतत्, प्रसिद्ध्यपरिज्ञानार्थम् च उपात्तमिति अलम् असद्व्याख्यानैः।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि प्रकृत दर्शन के प्रतिष्ठापक का नाम 'कणाद' इनके आचार अथवा सिद्धान्त के आधार पर पड़ा था न कि यह इनका पारिभाषिक व्यक्तिगत नाम था। अतएव इन्हें यत्र-तत्र 'कणभुक्', 'कणभक्ष' तथा 'कणव्रत' भी कहा गया है।

'पदार्थ-धर्म-संग्रह' तथा 'किरणावली' आदि में इन्हें 'काश्यप' भी कहा गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ये कश्यप-गोत्र में उत्पन्न हुए थे।

'वायु-पुराण' में इन्हें प्रभास-क्षेत्र-वासी सोमशर्मा का शिष्य तथा भगवान् शङ्कर का अवतार कहा गया है। इस विषय में विशेष विवरण म० म० पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी जी की 'न्याय-कन्दली' की भूमिका में दिया गया है।

---

१. व्योमवती (व्योम०), पृ० २० (छ)।

२. न्याय-कन्दली (न्या० क०), पृ० ४।

३. Ui—Vaisheshika Philosophy (Vais. Phil.) P. 6.

४. व्योम०, पृ० २० (छ)।

इनका दूसरा नाम 'उलूक' भी प्रसिद्ध है। इस विषय में निम्नलिखित मत है :—

(क) डा० उई द्वारा प्रस्तुत[1] आर्यदेव के 'शत-शास्त्र' के व्याख्याकार चीनी विद्वान् चिरसान के अनुसार, इनका नाम इसीलिए 'उलूक' पड़ा था कि ये दिन में ग्रन्थ-रचना करते थे और रात में उलूक के समान जीविकोपार्जन किया करते थे।

(ख) व्योमशिवाचार्य भी किसी[2] कारण के निर्देश के विना इन्हें 'उलूक' शब्द से अभिहित करते हैं।

(ग) नैषधीय-चरित' के[3] व्याख्याकार नारायण भट्ट ने भी 'उलूक' को 'कणाद' का पर्याय माना है।

मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित[4] 'वै० सू० वृत्ति' में इन्हें 'उलूक-वेषधारी' कहा गया है।

'वाचस्पत्यम्' में इन्हें उलूक ऋषि की सन्तति मानकर 'औलूक्य' कहा गया है। 'सम्मतितर्क' की व्याख्या में[5] अभयदेव सूरि ने भी इसी का अनुमोदन किया है।

जैन विद्वान्[6] राजशेखर का कहना कि 'उलूक' रूप में भगवान् शङ्कर ने 'कणाद' को इस शास्त्र का उपदेश दिया था। इस दृष्टि से 'कणाद' तथा इनके दर्शन को 'औलूक' भी कहा जा सकता है।

कहीं कहीं[7] इनके 'परमाणुवाद' के आधार पर इस सम्प्रदाय तथा इसके आचार्यों को 'पैलुक' भी कहा गया है। यहाँ पीलु-शब्द का अर्थ है परमाणु जैसा कि 'पीलु-पाक-वाद' शब्द से स्पष्ट है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि इस दर्शन के प्रतिष्ठापक की

---

१. Vais. Phil. P. 3.

२. व्योम० "……विना = पक्षिणा = उलूकेन", पृ० ११४।

३. नैषधीयचरित-प्रकाश २२।३६।

४. वै० सू० वृत्ति २।१।१२।

५. सम्मतितर्क-व्याख्या, पृ० १४०; और भी देखिए—षड्दर्शन-समुच्चय-वृत्ति (ष० द० स० वृ०), पृ० ६३।

६. मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूक-रूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-लक्षणम् पदार्थ-षट्कम् उपदिदेश (राजशेखर)—न्याय-लीलावती-भूमिका (न्या० ली० भू०), पृ० २।

७. पैलुकेन कणाद-शिष्येण—न्यायबिन्दुटीका, पृ० ८८ (चौखम्बा)।

प्रसिद्धि 'कणाद' 'उलूक', 'औलूक्य' 'पैलुक' एवम् 'औलूक' आदि शब्दों से है।

प्रकृत-दर्शन के नाम

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि प्रकृत दर्शन 'काणाद', 'काश्यपीय', 'आलूक्य' एवम् 'पैलुक' आदि शब्दों से निर्दिष्ट होता आ रहा है। परन्तु इसका सब से अधिक प्रसिद्ध नाम है 'वैशेषिक-दर्शन'। इसे 'वैशेषिक-दर्शन' क्यों कहा जाता है?—इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं:—

(क) चीनी विद्वान् की[१] एक परम्परा के अनुसार यह दर्शन 'कणाद' के बुद्धि-वैशिष्ट्य से उपोद्बलित होने के कारण 'वैशेषिक' कहलाता है। डा० उई ने एक अन्य मत का[२] भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार 'दश-पदार्थ-शास्त्र' के प्रणेता आचार्य चन्द्र को भी चीनी भाषा में 'विशिष्ट उपदेशक' कहा गया है। उक्त दोनों परम्पराओं में 'वैशेषिक' नाम के मूलभूत 'विशेष' शब्द का अर्थ 'बौद्धिक-विशेष' है।

किन्तु उपर्युक्त विवरण से प्रो० उई ने[३] असन्तोष व्यक्त किया है, क्योंकि केवल इसी दर्शन के आचार्यों की बुद्धि उत्कृष्ट होती थी अन्य शास्त्रों के आचार्यों की नहीं—यह आत्माभिमानमात्र-सा लगता है। अतः उपर्युक्त आधार पर इस सम्प्रदाय का उक्त नामकरण उचित नहीं प्रतीत होता है।

(ख) 'वैशेषिक-सूत्र' के अर्वाचीन भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार[४] का कहना है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्त्वों के व्याख्यान होने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा है। प्रो० उई ने[५] भी एक चीनी परम्परा का ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है। परन्तु पूर्वोक्त युक्ति से यह मत भी बहुत उपादेय नहीं प्रतीत होता है।

(ग) 'षड्-दर्शन-समुच्चय' की वृत्ति में[६] मणिभद्र ने नैयायिकों की अपेक्षा द्रव्य-गुण आदि विशेष तत्वों की व्याख्या होने के कारण ही इसे 'वैशेषिक' कहा है।

---

१. Vas. Phil. P. S.

२. Ibid. P. 9.

३. Ibid. P. 9.

४. यदिदं वैशेषिकं नाम शास्त्रमारब्धम् तत् खलु तन्त्रान्तरात् विशेषस्यार्थस्य अभिधानात्—चन्द्रकान्त-भाष्य (च० भा०), पृ० ५।

५. Vais. Phil. P. 5.

६. नैयायिकेभ्यो द्रव्य-गुणादि-सामग्र्या विशिष्टमिति वैशेषिकम्—ष० द० स० वृ०, पृ० ४।

(घ) प्रो० उई ने[1] एक अन्य चीनी-परम्परा का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार 'सांख्य-शास्त्र' की अपेक्षा इस दर्शन के विशिष्टतर होने के कारण ही इसे 'वैशेषिक' कहा जाता है। परन्तु यह मत भी बहुत उचित नहीं प्रतीत होता है।

(ङ) 'नैषधीय-चरित' के प्रसिद्ध व्याख्याकार नारायण भट्ट[2] ने द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के तत्त्व-ज्ञापक होने के कारण ही इस दर्शन को 'वैशेषिक' कहा है। म० म० कालीपद तर्काचार्य की चतुर्थ व्याख्या भी इस मत से (अंशतः) तथा मणिभद्र की व्याख्या से मिलती-जुलती है।

(च) अत्यन्त प्रसिद्ध तथा बहुमत व्याख्या[3] यह है कि इस दर्शन में दर्शनान्तर-विलक्षण 'विशेष' पदार्थ की व्याख्या होने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा। अपनी 'न्याय-लीलावती' में 'श्लाघ्या विशेष[4]-स्थितिः' कह कर श्री वल्लभाचार्य ने भी प्रायः इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। डा० राधाकृष्णन्[5] आदि अर्वाचीन विशिष्ट विद्वान् भी इसी के समर्थक हैं।

(छ) उदयनाचार्य ने अपनी 'किरणावली'[6] में तत्त्व-निश्चय-पूर्वक व्यवहार करनेवालों को 'वैशेषिक' की उपाधि दी है। उनके मत में 'विशेष' शब्द व्यवच्छेद, अर्थात् तत्त्व-निश्चय, का वाचक है :—"विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्व-निश्चयः, तेन व्यवहरतीत्यर्थः"।

(ज) वस्तुतः 'वैशेषिक' शब्द के प्रकृति-भूत 'विशेष' शब्द का अर्थ 'व्यवच्छेदक' होना चाहिए। इस दृष्टि से 'विशेष' शब्द की व्युत्पत्ति यह हो सकती है—'विशिष्यते = सर्वतः व्यवच्छिद्यते —येन स विशेषः'। व्यवच्छेदक के विषय में विचार करने पर यह स्पष्ट है कि साधर्म्य-वैधर्म्य ही किसी भी तत्त्व का तत्त्वान्तर से व्यवच्छेदक हो सकता है, केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य नहीं। अतः 'वैशेषिक' शब्द की निम्नलिखित दो व्याख्यायें हो सकती हैं :—

---

१. Vais. Phil. P. 4.

२. नैषधीयचरित-प्रकाश—२२।३६।

३. शास्त्र-रूपार्थे वैशेषिकशब्द-शब्द-व्युत्पत्तिः विशेषं पदार्थभेदमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—न्याय-कोश।

४. न्य० ली०, श्लो० २।

५. Indian Philosophy. P. 176.
Ui—Vais. Phil. P. 7.
प्रशस्त-पाद-भाष्य-भूमिका (कालीपद तर्काचार्य), पृ० ४।

६. किरणावली (किर०), (एशियाटिक सोसाइटी) पृ० ६१३।

(क) विशेषाभ्याम् (चतुर्थी-द्विवचन) = व्यवच्छेदकाभ्याम् साधर्म्य-वैधर्म्याभ्याम् (= साधर्म्य-वैधर्म्ये प्रतिपादयितुम्) प्रभवति इति वैशेषिकम् ।

(ख) विशेषाभ्याम् (तृतीया-द्विवचन) व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शनम् (दार्शनिकश्च वैशेषिकः) इति ।

वैशेषिकों की धार्मिक-निष्ठा

प्रशस्तपाद ने अपने 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' के अन्त में यह बतलाया है कि महर्षि 'कणभुक्' ने अपने यौगिक-सदाचार से महेश्वर को प्रसन्न कर उनकी कृपा से वैशेषिक शास्त्र का निर्माण किया[1]। इस विचार का समर्थन उदयनाचार्य ने भी किया[2] है। चन्द्रानन्द ने "अथाऽतो धर्मं व्याख्यास्यामः"[3] की वृत्ति में कुछ विशद तथा विशेष विवरण प्रस्तुत किया है :—

वेदाभ्यास-व्यपगत-मल एक ब्राह्मण "अशरीरं वावसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः" इस छान्दोग्योपनिषद् (८।१२।१) के उपदेश को समझ कर भगवान् कणाद के पास पहुँचा और उनसे ('कणाद' से) निवेदन किया—हे भगवन्, उपर्युक्त वाक्य के द्वारा जो निःश्रेयस का उपदेश दिया गया है उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? महर्षि 'कणाद' ने उत्तर दिया—धर्म। पुनः उस ब्राह्मण ने प्रश्न किया—धर्म क्या है? इसका क्या लक्षण है? इसके साधन क्या हैं? इसका उद्देश्य क्या है? इसका अधिकारी कौन हो सकता है? इसके बाद 'कणाद' ने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की। प्रथम सूत्र में 'अथ' शब्द उसी प्रतिज्ञा का आनन्तर्य बतलाया है। परन्तु इसमें 'कणाद' के ज्ञान-लाभ का आख्यान नहीं है। व्योमशिवाचार्य ने[4] महेश्वर के प्रसाद का

---

१. योगाऽऽचार-विभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ॥
पदार्थ-धर्म-संग्रह (प० ध० सं०) का अन्तिम श्लोक ।

२. किरणावली, पृ० ४; राजशेखर ने भी इसी का विवरण कुछ विशेषता के साथ किया है :—

इह किल पूर्वमजिह्म-ब्रह्माऽभ्यास-दूरीकृत-प्रमादाय मुनये कणादाय स्वयमीश्वर उलूक-रूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-समवाय-विशेष-लक्षणं पदार्थषट्कमुपदिदेश । तदनु स महर्षिः लोकानुकम्पया षट्-पदार्थ-रहस्य-प्रपञ्चनपराणि सूत्राणि रचयाञ्चकार ।

(न्या० ली० भू०, पृ० २ पर उद्धृत)

३. वै० सू० १।१।१ ।

४. व्योम०, पृ० १९ ।

तथा उपर्युक्त चन्द्रानन्द-कथित उपाख्यान का (यद्यपि व्योमवती का पाठ त्रुटित है तथापि उपलब्ध कुछ शब्दों से प्रतीत होता है कि इनका उपाख्यान और चन्द्रानन्द का उपाख्यान समान ही था) निर्देश किया है।

उपर्युक्त महेश्वर तथा 'कणाद' के सम्बन्ध को ध्यान में रख कर ही कुछ लोग वैशेषिक दार्शनिक को 'शैव' कहने के पक्ष में हैं। अत एव हरिभद्रसूरि ने अपने 'षड्-दर्शन-समुच्चय' में लिखा है :—

"अक्ष-पाद-मते देवः सृष्टि-संहारकृच्छिवः।
विभुर्नित्यैक-सर्वज्ञो नित्य-बुद्धि-समाश्रयः॥
देवता-विषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समम्।
वैशेषिकाणाम्[१]........................॥"

दूसरे [२]मत के अनुसार नैयायिक लोग 'शैव' तथा वैशेषिक लोग 'पाशुपत' माने जाते हैं। 'युक्ति दीपिका' के उद्धरण[३] में वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा गया। इस मत के अनुयायी की दृष्टि में 'शिव' तथा 'पशुपति' में आगम-शास्त्र-प्रसिद्ध भेद का स्थान है।

तृतीय मत के अनुसार, नैयायिक तथा वैशेषिक, दोनों ही 'पाशुपत' माने जाते हैं।

'षड्-दर्शन-समुच्चय' की वृत्ति में मणिभद्रसूरि के निर्देश के अनुसार, इस प्रसङ्ग में 'पशुपति' तथा 'शिव' के स्वरूप में आगम-शास्त्रीय भेद नहीं माना गया है। 'षड्-दर्शन-समुच्चय' की तृतीय कारिका की वृत्ति में मणिभद्र का उल्लेख है :—

"नैयायिकस्पाशुपत-दर्शनम्;...वैशेषिकं काणाद-दर्शनम्, दर्शन-देवताऽऽदि-साम्येऽपि नैयायिकेभ्य..."।

पुनः स्वयम् मणिभद्र ने मूल-कार के अनुसार १३ तथा ५९ कारिकाओं की व्याख्या में नैयायिक तथा वैशेषिक को 'शैव' कहा है। अतः मणिभद्र की दृष्टि में 'शिव' तथा 'पशुपति' में कोई अन्तर नहीं है। उपर्युक्त वचन से गोतम आदि के 'पाशुपत' सिद्ध हो जाने से मणिभद्र के 'पाशुपतं दर्शनम्' पर टिप्पणी करते हुए दामोदर शास्त्री जी का निम्न-लिखित वचन निरर्गल नहीं प्रतीत होता है :—

---

१. ष० द० स०, का० १३, ५९।

२. भारतीय-दर्शन (उमेश मिश्र), पृ० २३८।

३. काणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत्—मिथिला-विद्यापीठ-संस्करण की प्रस्तावना (Introduction), पृ० १६ पर उद्धृत।

"असमञ्जसेयमुक्तिः—[1]न्याय-दर्शनस्य पाशुपतत्वेनाऽप्रसिद्धेः, पाशुपत-दर्शनस्य न्याय-प्रस्थानाऽऽरूढत्वस्प्रायेणेत्यन्यदेतत् ।"

वस्तुतः वैशेषिक 'शैव' हैं या 'पाशुपत' यह विचार-विमर्श बहुत महत्व नहीं रखता ।

'वैशेषिक-सूत्र' का समय

यद्यपि 'वैशेषिक-दर्शन' का मूल-स्रोत वेद ही है तथापि इसका क्रम-बद्ध रूप वैदिकोत्तर युग में ही सम्पन्न हुआ है—ऐसा ऐतिहासिकों का मत है। इस सम्प्रदाय का सर्व-प्रथम उल्लेख बौद्ध-साहित्य के मिलिन्द पञ्ह' में मिलता है।[2] राजा मिलिन्द का समय १५० ई० पू० माना जाता है। डा० उई ने अपने ग्रन्थ—Vaisheshika Philosophy—में जैन ग्रन्थों में भी वैशेषिक-सम्प्रदाय के उल्लेख का संग्रह किया है। वैशेषिक तथा बौद्ध ही ऐसे भारतीय सम्प्रदाय हैं जिनका उल्लेख चीन की प्राचीन परम्परा में मिलता है। अतः इस सम्प्रदाय की प्राचीनता असन्दिग्ध है। न्याय-दर्शन की अपेक्षा भी इसे प्राचीनतर[3] माना जाता है। इतना होने पर भी वै० सू० की रचना का निश्चित काल बतलाना कुछ कठिन कार्य है। तथापि ऐतिहासिकों के मत-मतान्तर का सारांश निम्नलिखित है :—

(क) डा० याकोबी के मत में[4] न्याय-सूत्र का समय २०० ई० से ५०० ई० के बीच का है और वै० सू० उससे कुछ प्राचीनतर है।

(ख) डा० उई ने[5] वै० सूत्रों के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग परीक्षण के पश्चात् इन सूत्रों को नागार्जुन से पूर्ववर्ती सिद्ध कर वै० सू० को ५० से लेकर १५० ई० के आस-पास की रचना मानी है।

(ग) म० म० डा० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने[6] ईस्वीयपूर्व चतुर्थ-शतक के मध्य-भाग से भी पहले वै० सू० की रचना मानी है।

वैशेषिक-सूत्रों का स्वरूप तथा उनकी संख्या

'कणाद' के बाद और प्रशस्तपाद के 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' से पूर्व वैशेषिक-

---

१. ष० द० स०, पृ० ४ ।

२. Randle—Indian Logic in Early Schools (I. L. S.), P. 12.

३. Garbe—The Philosophy of Ancient India, P. 20, Randle—I. L. S. P. 177.

४. Journal of The American Oriental Society, Vol. xxxi.

५. Vais. Phil. P. 65.

६. Primer of Indian Logic (Introduction), P. xii.

दर्शन की परम्परा के लुप्त-प्राय हो जाने के कारण वैशेषिक-सूत्रों का स्वरूप वस्तुतः विरूप हो गया है। भिन्न-भिन्न व्याख्याओं तथा अन्यान्य ग्रन्थों से उद्धृत वैशेषिक-सूत्रों के स्वरूप में पर्याप्त असामञ्जस्य है। मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित संस्करण की भूमिका में तथा बड़ौदा से प्रकाशित संस्करण की प्रस्तावना तथा उनके कुछ परिशिष्टों में सूत्र-पाठ-तारतम्य का निर्देश किया गया है, जो बहुत ही उपयोगी है।

जैसे स्वरूप में वैमत्य है उसी तरह संख्या में भी सम्प्रतिपत्ति नहीं है। साधारणतः शङ्कर मिश्र के 'उपस्कार' के साथ प्रकाशित वै० सू० का प्रचार अधिक है। इसमें पूरे सूत्र-पाठ को १० अध्यायों तथा प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में विभक्त किया गया है। इस संस्करण की सङ्कलित सूत्र-संख्या है :—३७०। परन्तु 'उपस्कार' में पठित बहुत सूत्र तो स्पष्टतः अनावश्यक या पूर्व-सूत्रों के प्रपञ्च जैसे प्रतीत होते हैं, जो प्रक्रिया साधारणतः अन्य सूत्रकारों की शैली में नहीं पायी जाती है। मिथिला विद्यापीठ से १९५७ ई० में प्रकाशित वै० सू० में केवल नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक का अंश ही उपलब्ध होता है जिसमें ३२४ सूत्र हैं। बड़ौदा से १९६१ ई० में चन्द्रानन्द-वृत्ति के साथ प्रकाशित संस्करण में ३८४ सूत्र मिलते हैं। इस संस्करण की एक विशेषता और है कि इसमें अष्टम, नवम तथा दशम अध्यायों का अन्य अध्यायों की तरह दो-दो अह्निकों में विभाजन नहीं है।

वै० सू० की व्याख्याएँ

(क) वाक्य

वै० सू० पर एक 'वाक्य' नाम की टीका का संकेत जैन लेखक महातार्किक मल्लवादी ने अपने 'द्वादशारनय-चक्र', जिसका संस्कृत रूपान्तर बड़ौदा से प्रकाशित वै० सू० के परिशिष्ट में किया गया है, में किया है। 'नय-चक्र' में एक वाक्य है[1]—'असत्सम्बन्ध-परिहारार्थं निष्ठा-सम्बन्धयोरेक-कालत्वात् इति वाक्यम् सभाष्यं प्रशस्तोऽन्यथा व्याचष्टे'। इसके व्याख्याकार सिंह सूरि ने भी उक्त 'भाष्य' को "अस्य वाक्यस्य[2] व्याख्याग्रन्थः" कहकर 'वाक्य' की सत्ता को प्रमाणित किया है। 'वाक्य' इस नाम से ही उसकी संक्षिप्तता स्पष्ट है। यद्यपि मैंने प्रशस्तपाद-भाष्य (का० सं० ग्रन्थ-माला १७३) की 'प्रस्तावना' के १८ पृष्ठ पर 'वाक्य' शब्द से किसी भी व्याख्या की प्रसिद्धि नहीं है, ऐसा बतलाया था परन्तु भोजराज के 'शृङ्गार-

---

१. नय-चक्र (न० च०) पृ० १५० (तथा पृ० १५२ भी द्रष्टव्य है)।

२. वही, पृ० १५२।

प्रकाश' के अवलोकन से ऐसा पता चला है कि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर कोई 'वाक्य-वार्तिक' रहा। अतएव निम्नलिखित पद्य भी उपलब्ध होता है—

"यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण, तत्स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रतीत्येव, तेनाऽदृष्टं च भाष्यकृत्॥"

अतः यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त 'वाक्य' भी वै० सू० पर एक वार्तिक-ग्रन्थ रहा हो।

इस 'वाक्य' के ऊपर एक 'भाष्य' तथा उन दोनों पर एक प्रशस्तमति की टीका—जिसका नाम भी 'प्रशस्तमति' ही सम्भावित है—की सत्ता भी उपर्युक्त उद्धरण तथा 'कारण-समवेतस्य वस्तुनः उत्तर-कालं सत्ता-सम्बन्धः'[1] इति बहूनाम्मतम्, वस्तूत्पत्ति-काल एवेति तु वाक्यकाराऽभिप्रायोऽनुसृतो भाष्यकारैः, सिद्धस्य वस्तुनः स्व-कारणैः सत्तया च सम्बन्ध इति प्राशस्तमतोऽभिप्रायः" इस कथन से सिद्ध होती है।

(ख) आयस्क-कृत व्याख्या

बड़ौदा से प्रकाशित वै० दर्शन के परिशिष्ट में तिब्बती भाषा से संस्कृत में रूपान्तरित 'प्रमाण-समुच्चय' में लिखा है—"केचित्[2] प्रमाणात् फलमर्थान्तर-मिच्छन्तः असाधारण-कारणत्वात् इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षम्प्रमाणमामनन्ति"। इसकी व्याख्या करते हुए जिनेन्द्रबुद्धि ने 'केचित्' का अर्थ किया है "आयस्कादयः"[3]। सम्भव है कि इसी मत को मानने वाली कुछ और व्याख्याएँ या उपव्याख्याएँ भी रहीं जिनके लिए वृत्तिकार जिनेन्द्रबुद्धि ने 'आदि' शब्द का प्रयोग किया हो। कई स्थान पर 'प्रमाण-समुच्चय' तथा इसकी वृत्ति में उद्धरण किसी आचार्य के नाम-निर्देश के बिना ही मिलते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध किससे है—यह कहना कठिन है।

(ग) रावण-भाष्य

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही आचार्य दिङ्नाग ने एक मतान्तर का भी उल्लेख किया है—"अन्ये तु[4] प्रधानत्वात् आत्म-मनः-सन्निकर्षं प्रमाणमाहुः"। इसकी व्याख्या करते हुए जिनेन्द्रबुद्धि ने 'रावणादयः'[5] लिखा है जिससे एक रावणकृत

१. वही, पृ० १५२।

२. प्रमाण-समुच्चय (प्र० स०), पृ० १६९।

३. विशालामलवती (विशा०), पृ० १७४।

४. प्र० स०, पृ० १६९।

५. विशा०, पृ० १७४।

व्याख्या का संकेत मिलता है। 'ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्य' की रत्नप्रभा' में भी एक विवरण है—"द्वाभ्यां[1] द्व्यणुकाभ्यामारब्धे कार्ये महत्त्वं दृश्यते, तस्य हेतुः प्रचयो नाम प्रशिथिलावयव-संयोगः इति रावण-प्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तन-वैशेषिक-दृष्ट्या इदम्"। उदयनाचार्य ने अपनी 'किरणावली'[2] में जिस 'भाष्य' का संकेत किया है वह भी पद्मनाभ मिश्र की दृष्टि में 'रावण-भाष्य' ही है।

इस 'रावण-भाष्य' को कुछ लोग[3] प्रशस्तपाद से परवर्त्ती मानते हैं। परन्तु यदि उदयानाचार्य द्वारा निर्दिष्ट भाष्य रावण-भाष्य' ही था तब तो यह नहीं माना जा सकता कि 'रावण-भाष्य' प्रशस्तपाद से उत्तर-काल की व्याख्या थी। उपर्युक्त 'रत्नप्रभा' में भी रावण के मत को चिरन्तन-वैशेषिकदृष्टि' का महत्त्व दिया गया है जो 'रावण-भाष्य' की प्राचीनता का ही परिपोषक है।

(घ) कटन्दी

'नय-चक्र'[4] की 'न्यायागमानुसारिणी' वृत्ति में एक 'कटन्दी' नाम की टीका का उल्लेख है। मुरारि मिश्र के 'अनर्घराघव'[5] नाटक में भी रावण की उक्ति है—"वैशेषिक-कटन्दी-पण्डित…"। इसकी व्याख्या में रुचिपति उपाध्याय ने इस 'कटन्दी' को रावण की अपनी ही कृति मानी है। अतः कुछ विद्वान्[6] का कथन है कि 'रावण-भाष्य' ही 'कटन्दी' है। परन्तु रावण का 'भाष्य' था और 'कटन्दी' टीका थी जैसा कि 'नय-चक्र' की वृत्ति की 'कटन्द्यां[7] टीकायाम्' उक्ति से स्पष्ट है। यद्यपि भाष्य भी टीका ही है तथापि भाष्य को 'टीका' कहने की तथा नाम-विशेष से उपात्त करने की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक नहीं है। अतः 'कटन्दी' तथा रावण-भाष्य' की एकता सन्दिग्ध है। दूसरी बात यह है कि 'अनर्घराघव' के 'कटन्दी-पण्डितः' का स्वारस्य उसके रावणान्य-कर्तृकत्व मानने में ही प्रतीत होता है, क्योंकि स्वकृत ग्रन्थ के पाण्डित्य का प्रख्यापन कुछ अर्थ नहीं-सा रखता है।

---

१. ब्र० सू० २।२।११ के शां० भा० पर रत्नप्रभा।

२. किर०, पृ० ५ (काशी)।

३. Bodas—Introduction to the तर्क-संग्रह—p. 33.

४. न० च० वृत्ति, पृ० १४९, १५० आदि।

५. अनर्घराघव, पृ० १९१ (काव्यमाला संस्करण)।

६. कुप्पूस्वामी—Journal of Oriental Research. Madras, Vol. III, pp. 1–5.

७. न० च० वृत्ति, पृ० १४७।

(ङ) आत्रेय-भाष्य

'स्याद्वाद-रत्नाकर' में 'आत्रेय-भाष्य' के बहुत से वाक्य उद्धृत किए गए हैं जिनके आधार पर वै० सू० के आत्रेय-कर्तृक 'भाष्य' का निर्णय किया जाता है। डा० वी० राघवन्[1] तथा गुरुवर प्रो० श्री अनन्तलाल ठाकुर[2] जी ने 'आत्रेय-भाष्य' के उपलब्ध उद्धरणों का सङ्कलन किया है। यहाँ उनका निर्देश अनावश्यक प्रतीत होता है। मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित 'वै० सू० वृत्ति' से भी 'आत्रेय[3]-भाष्य' का संकेत मिलता है। परन्तु मूल 'भाष्य' अप्राप्त है।

(च) भाष्य

'प्र० स०' की वृत्ति में[4] एक 'भाष्य' का उल्लेख है। यह पूर्वोक्त 'वक्य-भाष्य' से भिन्न ही है। इस वृत्ति में एक स्थान पर कहा गया है—'असौत्रमपि भाष्यकृदभिहितमस्ति, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षः प्रत्यक्षम् आत्म-मनः-सन्निकर्षो वा'। इस मत में पूर्वोक्त श्रायस्क-मत तथा रावण-मत का समाहार है। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि श्रायस्क तथा रावण ने अपनी-अपनी विवेचना के अनुसार भाष्यकार के एक-एक मत का अभ्युपगम किया था या भाष्यकार ने ही उन दोनों के मतों का संग्रह कर लिया था। अतः इसका पूर्ववर्त्तित्व सन्दिग्ध है। यह भी निर्णय करना कठिन है कि यह 'भाष्य' 'आत्रेय-भाष्य' से भिन्न था या अभिन्न, क्योंकि मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित 'वृत्ति' में आत्रेय का उल्लेख कहीं भी भाष्यकार के रूप में नहीं किया गया है जब कि कई स्थानों[5] पर 'भाष्यकार' का भी उल्लेख मिलता है।

(छ) प्रशस्तपाद-भाष्य

कुछ लोग प्रशस्तपाद के 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' को भी वै० सू० का 'भाष्य' मानने के पक्ष में हैं। परन्तु यह धारणा अत्यन्त भ्रान्त है।

---

१. Works and Authors quoted in S'rīdeva's Syādvādaratnākara—Nathuram Premi commemoration Volume. pp. 429–438.

२. Ātreya—the Bhāṣyakāra—Indian Culture. XIII. PP. 185–188 & Thc Problem of the Vaiśeṣikabhāṣya-Congress of Orientalists-Delhi Session.

३. वैशेषिक-सूत्र-वृत्ति (वै० सू० वृ०), पृ० ३, १५, ६५।

४. प्र० स० वृत्ति, पृ० १७४, १९५।

५. वै० सू० वृ०, पृ० २०, २१, ४०, ५३।

यद्यपि 'पदार्थधर्मसंग्रह' का 'भाष्य' शब्द से[1] अभिधान साम्प्रदायिक है तथापि इसे वै० सू० का 'भाष्य' (पारिभाषिक) नहीं माना जा सकता है। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में 'भाष्य' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है :—

(क) "सूत्रम्बुद्धिस्थीकृत्य[2] तत्पाठ-नियमम् विनापि तद्व्याख्यानम् भाष्यम्";

(ख) "सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्व-पदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः" ॥

(पराशरोपपुराण)

प्रथम अर्थ के अनुसार 'भाष्य' शब्द व्याख्या-मात्र के लिए प्रयुक्त हो सकता है परन्तु द्वितीय अर्थ के अनुसार यह पारिभाषिक है।

उपर्युक्त दोनों ही अर्थों की दृष्टि से आचार्यों ने 'पदार्थधर्मसंग्रह' को 'भाष्य' तथा 'संग्रह' कहा है। व्योमशिवाचार्य ने इसे बार-बार 'संग्रह'[3] कहकर भी कभी-कभी 'भाष्य'[4] शब्द से भी उपात्त किया है। श्रीधराचार्य की भी यह पद्धति है। उन्होंने अपनी इस उक्ति—'इदं हि तस्य नामेति तच्छब्द[5] संकीर्त्तनं कृतम् प्रशस्तदेवेन, न तु तदुपनिबन्ध-ख्यापनाय युक्तिरभिहिता, तदुपनिबन्ध वैशिष्ट्यस्य मन्वादिवाक्यवत् महाजन-परिग्रहादेव उपपत्तेः'—के द्वारा इसे स्वतन्त्र निबन्ध कहकर भी यत्र-तत्र[6] 'भाष्य' शब्द का प्रयोग इसके लिए कर डाला है।

परन्तु 'भाष्यस्य[7] चाति-विस्तृतत्वात्' कहनेवाले उदयनाचार्य इस 'पदार्थधर्मसंग्रह' को 'भाष्य' नहीं मानते। उनकी दृष्टि में भाष्य' शब्द का पारिभाषिकत्व ही उचित है। सभी व्याख्या-उपव्याख्याओं के लिए 'भाष्य' शब्द का प्रयोग 'भाष्य' की गरिमा का अपलाप है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भाष्य' के मर्यादित अर्थ के अनुसार 'पदार्थधर्मसंग्रह' को भाष्य' कहना अनुचित है।

---

१. व्योम०, पृ० २ (च), न्या० क०, पृ० ६९६; सेतु, पृ० २, ११८; सूक्ति, पृ० १।
२. न्याय-निबन्ध-प्रकाश (वै० द०, पृ० २ पर डा० गङ्गानाथ झा द्वारा उद्धृत)।
३. व्योम, पृ० ३३।
४. वही, पृ० २० (च)।
५. न्या० क०, पृ० ४।
६. वही, पृ० ६९६।
७. किर०, पृ० ५ (काशी)।

यद्यपि म० म० पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री ने 'न्याय-कन्दली' तथा 'किरणावली' की भूमिकाओं में एवं म० म० कालीपद तर्काचार्य ने अपनी 'प० ध० सं०' की भूमिका से 'प० ध० सं०' को पारिभाषिक 'भाष्य' के लक्षण से समन्वित करने का प्रयास किया है तथापि वह दुराग्रहमात्र है, क्योंकि वैसी दृष्टि अपनाने पर तो सभी साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'भाष्य' हो सकते हैं, फिर इसमें लक्षण-समन्वय का प्रयास निरर्थक है।

'प० ध० सं०' को पारिभाषिक 'भाष्य' मानने में एक यह भी अनुपपत्ति दीखती है कि अभी जितने भी 'भाष्य' उपलब्ध हैं उनमें किसी का संज्ञाविशेष नहीं है अपितु तत्तत् शास्त्र या तत्तत् भाष्यकार के नाम से ही उनका अभिधान प्रसिद्ध है, जैसे—'व्याकरण-महाभाष्य', 'न्याय-भाष्य', 'योग-भाष्य', 'शाबर-भाष्य', 'शाङ्कर-भाष्य' आदि। परन्तु प्रशस्तपाद का यह ग्रन्थ 'प० ध० सं०' से अतिरिक्त 'पदार्थ-संग्रह',[1] 'पदार्थ-प्रवेश'[2] तथा 'पदार्थ-प्रवेशक' आदि शब्दों से ही अभिहित होता है,[3] 'भाष्य' के नाम से नहीं। इससे भी इसे 'भाष्य' मानना अनुचित है। कहीं-कहीं 'भाष्य' का प्रयोग तो गौड़-रूप में है। 'प० ध० सं०' को देखने से यह भी स्पष्ट ही हो जाता है कि यह वै० सू० की साधारण टीका भी नहीं है।

वस्तुतः यह 'प० ध० सं०' 'संग्रह' है। 'संग्रह' का लक्षण निम्न लिखित है :—

"विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्र-भाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन सग्रहं तं विदुर्बुधाः॥"

इस 'प० ध० सं०' के प्रसिद्ध व्याख्याकार व्योमशिव[4], उदयन[5] तथा श्रीधर[6] ने भी इस तथ्य का स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से समर्थन किया है। अधिक कहना अनावश्यक है, क्योंकि स्वयम् प्रशस्तपाद ने ही तो इसे 'संग्रह' कहा है:—

---

१. व्योम० (प्रकरणान्त में पुष्पिका में)।

२. न्या० क० (प्रकरणान्त में), उप० ७।२।२६, ९।१।६।

३. सम्मतितर्कप्रकरण, पृ० ६६१; प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० ५३१; न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३६४; तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका, पृ० १९२।

४. पदार्थ-धर्माणां संग्रह इति निबन्धान्तरैः (रे) विस्ता(स्त)रोक्तानां संक्षेपेण अभिधानम्—व्योम०, पृ० २० (छ) तथा ३३।

५. शास्त्रे नानास्थानेषु विततः एकत्र सङ्कलय्य कथ्यन्ते इति संग्रहः—किर०, पृ० ५ (काशी)।

६. अन्यत्र ग्रन्थे विस्तरेण इतस्ततः अभिहितानाम् इह एकत्र तावतामेव पदार्थानां ग्रन्थे संक्षेपेणाभिधानम्—न्या० क०, पृ० ६।

"पदार्थधर्मसंग्रहः[1] प्रवक्ष्यते महोदयः।"

शङ्कर मिश्र के[2] अनुसार 'प० ध० सं०' एक 'प्रकरण' है। 'प्रकरण' की परिभाषा निम्नलिखित है :—

"शास्त्रैकदेश-सम्बद्धं शास्त्र-कार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थ-भेदं विपश्चितः॥"

परन्तु 'प० ध० सं०' के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'प्रकरण' नहीं है। अतएव उदयनाचार्य ने भी कहा है :—
"प्रकरणादीनां[3] चैकदेशत्वात्।"

इससे अतिरिक्त प्रशस्तपाद-कृत अन्य वै० सू० व्याख्या का कोई संकेत नहीं मिलता है। पहले एक टीका का संकेत किया गया है परन्तु वह तो 'वाक्य-भाष्य-टीका' है, वै० सू० की टीका नहीं।

फिर भी, मिथिला विद्यापीठसे प्रकाशित वृत्ति में सम्प्राप्त—'आत्रेय-प्रशस्तपादादयस्तु पृथिव्यामिति सूत्रम् कार्य-पृथिवी-रूपादीनां कारण-गुण-पूर्वकत्व-प्रतिपादकम्, वह्नि-संयोगात्पाकजाश्च इति सूत्रं तु परमाणु-पृथिवी-रूपादीनां पाकजत्व-प्रतिपादकमिति व्याचक्षते'—से वैशेषिक सूत्र की प्रशस्तपाद-कृत किसी टीका के विषय में थोड़ा सन्देह अवश्य ही होता है।

(ज) वृत्ति

चन्द्रानन्द ने[4] अपनी 'वै० सू० वृ०' में, जिनेन्द्र-बुद्धि ने[5] अपनी 'विशालामलवती' में तथा शङ्कर मिश्र ने अपने 'उपस्कार' में[6] एक 'वृत्ति' का उल्लेख किया है। 'चन्द्रानन्द-वृत्ति' में तथा 'उपस्कार' में कुछ उद्धरण भी मिलते हैं, परन्तु मूल रूप में 'वृत्ति' अभी उपलब्ध नहीं है। यह कहना कठिन है कि तीनों लेखकों द्वारा उल्लिखित 'वृत्ति' एक ही है। परन्तु यह भी निश्चित है कि शङ्कर मिश्र की दृष्टि में उस 'वृत्ति' का बहुत उपयोग नहीं था।

(झ) भारद्वाज-वृत्ति

म० म० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री ने 'न्या० क०' की भूमिका में

---

१. प० ध० सं०—मङ्गल-श्लोक।

२. उप० ७।१।२६, ९।२।६॥

३. किर०, पृ० ५ (काशी)।

४. चन्द्रानन्द-वृत्ति, पृ० ६९, ७०।

५. विशा०, पृ० १७३।

६. उपस्कार १।१।२; १।२।३; १।२।६; ३।१।१७; ४।१।७; ६।१।५; ६।१।१२; ७।१।३; ९।२।८; १०।१।३।

एक 'भारद्वाज-वृत्ति' का उल्लेख किया है। डा० [1]राधाकृष्णन्, प्रो०[2] दासगुप्त आदि आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों में भी प्रायः उसी के आधार पर इसका उल्लेख किया गया है। शास्त्रीजी ने यह भी लिखा है कि किसी संन्यासी के पास मिथिलाक्षर में लिखित एक छिन्न-भिन्न हस्त-लिखित 'भारद्वाज-वृत्ति' उन्हें देखने को भी मिली थी, परन्तु बाद में वह 'वृत्ति' उन्हें मिल न सकी। यह निर्णय करना कठिन है कि यह 'वृत्ति' और चन्द्रानन्द आदि के द्वारा संकेतित वृत्ति' एक रही या भिन्न-भिन्न। बहुत सम्भव है कि अपने समय में प्रचलित अपव्याख्यानों से उद्विग्न होकर न्याय-वार्त्तिककार भारद्वाज उद्योतकराचार्य ने ही इस 'वृत्ति' की रचना की हो? वै० द० के प्रति उनकी निष्ठा में उनके समान-तन्त्र के प्रसिद्ध आचार्य होने के साथ-साथ यह भी प्रबल प्रमाण है कि उन्होंने 'न्याय-वार्त्तिक' में भी वै० द० के कइ सूत्रों की प्रामाणित व्याख्या की है; जिसका संकलन गुरुवर[3] ठाकुर जी ने अपने एक विशिष्ट निबन्ध में किया है। परन्तु यह 'वृत्ति' यदि उद्योतकर की हो तब तो पूर्वोक्त 'वृत्ति' या कम से कम शंकर मिश्र के द्वारा उल्लिखित 'वृत्ति', जिसे उन्होंने अत्यन्त साधारण माना है, इससे अभिन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि उद्योतकर जैसे महादार्शनिक की 'वृत्ति' का गौरव साधारण नहीं हो सकता है।

(ञ) चन्द्रानन्द-वृत्ति

१९६१ ई० में बड़ौदा से वै० सू० की एक चन्द्रानन्द-कृत 'वृत्ति' का प्रकाशन हुआ है। यह 'वृत्ति' संक्षिप्त होने पर भी वैशेषिक-दर्शन के मर्म को समझने के लिए बहुत ही उपयोगी है। सम्पादक के अनुसार चन्द्रानन्द का समय ७०० ई० के आस-पास है।

(ट) कणाद-सूत्र-निबन्ध

वै० सू० पर भट्ट वादीन्द्र की एक 'कणाद-सूत्र-निबन्ध'[4] नाम की टीका है। इसका संकेत गुरुवर अनन्तलाल ठाकुर जी ने बड़ौदा से प्रकाशित चन्द्रानन्द-वृत्त्यनुगत वैशेषिक-दर्शन के उपोद्घात (Introduction) में भी किया है। भट्ट वादीन्द्र का समय १३ शतक का पूर्वार्ध माना जाता है।

१. Indian Philosophy. P. 180.

२. History of Indian philosophy. P. 306.

३. Udyotakara as a Vaiśeṣika—Proceedings and Transactions, All India Oriental Conference, Bombay—1949, P. 327 ff.

४. Introduction to The Mahāvidyā–Vidamḍana, P. XVI,

(ठ) मिथिला-विद्यापीठ-वृत्ति या व्याख्या

मिथिला-विद्यापीठ, दरभङ्गा से १९५७ ई० में एक व्याख्या का प्रकाशन हुआ है, परन्तु इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। यह व्याख्या नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक ही उपलब्ध है। वै० सू० के तात्पर्य को समझने के लिए यह व्याख्या अत्यन्त उपादेय है। मेरी दृष्टि में 'चन्द्रानन्द-वृत्ति' की अपेक्षा यह उत्कृष्टतर है। इसका रचना-काल १३०० ई० के आस-पास माना गया है।

(ड) उपस्कार

१५०० ई० के प्रसिद्ध मैथिल दार्शनिक शंकर मिश्र के द्वारा रचित 'वैशेषिक-सूत्र-उपस्कार' आज-कल सबसे प्रचलित व्याख्या है। यह नव्य-न्याय की प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। इसके ऊपर भी पञ्चानन तर्करत्न ने 'परिष्कार' नाम की टीका लिखी है जो कलकत्ते से प्रकाशित हुई है।

उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त कुछ आधुनिक व्याख्याएँ भी हैं— चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार का 'भाष्य', जयनारायण तर्कपञ्चानन की 'विवृति', रघुदेव का 'व्याख्यान', हरिप्रसाद शास्त्री की वैदिक-वृत्ति' तथा अन्यान्य हिन्दी व्याख्यान आदि। इनमें चन्द्रकान्त का 'भाष्य' तथा जयनारायण की 'विवृति' अधिक उपादेय हैं।

प्रस्तुत संस्करण का प्रतिमान

प्रस्तुत संस्करण शङ्कर मिश्र के 'उपस्कार' के आधार पर किया गया है। यद्यपि वै० सू० की मौलिक स्थिति अन्धकार में पड़ी है और इस दृष्टि से उपस्कार-संस्करण का मूल्य बहुत नहीं है तथापि इस छात्रोपयोगी संस्करण के प्रतिमान के रूप में उपस्कार-संस्करण को रखने का कारण है 'उपस्कार' का अत्यधिक प्रचार।

वैशेषिक दर्शन के पदार्थ

वैशेषिक-दर्शन में पदार्थों का दो रूपों में विभाजन किया गया है :— 'भाव' तथा 'अभाव'। 'भाव' पदार्थ के छः भेद हैं :—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। इनमें भी द्रव्य के नौ, गुण के चौबीस, कर्म के पाँच तथा सामान्य के दो प्रकार प्रकृत दर्शन में अभीष्ट हैं और इनका यथोचित निरूपण भी सूत्रों तथा व्याख्याग्रन्थों में किया गया है।

यद्यपि वैशेषिक दर्शन के बहुत से विषय अत्यन्त गम्भीर हैं और इसलिए विचारणीय भी अवश्य हैं तथापि अत्यावश्यक एवम् अत्यन्त विवाद-ग्रस्त दो विषयों पर ही कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :—

वैशेषिक-दर्शन में अभाव पदार्थ

अभाव पदार्थ के सूत्रकारसम्मतत्व के विषय में सम्प्रति कई मत-मतान्तर प्रचलित हैं। पदार्थ-विभाजक[1] सूत्र में अभाव पदार्थ के नामोल्लेख न होने के कारण कुछ लोगों का कथन है कि अभाव पदार्थ सूत्रकार-सम्मत नहीं है। अन्य लोगों का मत है कि सूत्रकार अभाव पदार्थ को मानते हैं। सम्प्रति वैशेषिक-दर्शन में उपलब्ध 'धर्मविशेष-प्रसूतात्०' सूत्र मौलिक नहीं है। अतः उक्त पदार्थ-विभाजक सूत्र में अभाव के अनुल्लेख से अभाव पदार्थ के सूत्रकार-सम्मतत्व में कोई कठिनता नहीं आती। परन्तु 'पदार्थधर्मसंग्रह' आदि के प्रामाण्य पर उक्त सूत्र की मौलिकता के प्रमाणसिद्ध होने के कारण उक्त द्वितीय मत में बहुत सामञ्जस्य[2] नहीं प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् 'सप्तपदार्थी' के रचयिता शिवादित्य मिश्र को वैशेषिक-दर्शन में अभाव पदार्थ के प्रथम अभ्युपगम का श्रेय देने के पक्ष में हैं। परन्तु सूत्रकार-प्रतिपादित अभावात्मक निश्रेयस की उपपत्ति सूत्रकार के द्वारा अभाव पदार्थ के अभ्युपगम के बिना कैसे हो सकती है? अतः शिवादित्य मिश्र को भी इसके प्रथमाभ्युपगम का श्रेय देना उचित नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि वैधर्म्य-ज्ञान भी निःश्रेयस का अन्यतर प्रयोजक, इस दर्शन के अनुसार है। अभाव पदार्थ के अभ्युपगम के बिना इस वैधर्म्य-ज्ञान की उपपत्ति कैसे हो सकती है? अतः निःश्रेय-सोपयोगी[3] तथा निःश्रेयसस्वरूप[4] अभाव पदार्थ के सूत्रकारसम्मतत्व में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं करनी चाहिए।

अब प्रश्न है कि यदि सूत्रकार अभाव पदार्थ के समर्थक थे और पदार्थ-विभाजक सूत्र भी मौलिक है तो उस सूत्र में अन्य पदार्थों की तरह अभाव पदार्थ का भी सूत्रकार ने उद्देश क्यों नहीं किया? इस प्रश्न के उत्तर विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से प्रस्तुत किए हैं। न्यायवार्त्तिककार आचार्य[5] उद्योतकर, आचार्य[6] वाचस्पति मिश्र, 'पदार्थधर्मसंग्रह' के प्रसिद्ध व्याख्याकार व्योमशिवाचार्य,[7] श्रीधराचार्य,[8] तथा उदयनाचार्य[9] का कहना है कि यतः अभाव का निरूपण अभाव-प्रतियोगी के निरूपण के बिना सम्भावित नहीं है अत एव अभाव-प्रतियोगिभूत द्रव्य आदि छः भाव पदार्थों के उद्देश से ही

---

१. वै० सू० १।१।४। २. प० ध० सं० की प्रस्तावना, पृ० १२–१३।
३. न्या० ली, पृ० १६। ४. न्यायलीलावती-प्रकाश, पृ० १७।
५. न्यायवार्त्तिक, पृ० ११। ६. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ० ३४।
७. व्योम, पृ० २० (ज)। ८. न्या० क०, पृ० १८।
९. किर०, पृ० ५ तथा न्यायकुसुमाञ्जलि १।२२।

अभाव पदार्थ का उद्देश भी अर्थ-लब्ध हो जाता है। अत एव पदार्थ-विभाजक सूत्र में अभाव पदार्थ का उद्देश सूत्रकार ने नहीं किया है।

न्यायलीलावतीकार[1] श्रीवल्लभाचार्य का समाधान है कि समान-तन्त्र–न्यायदर्शन—में प्रतिपादित होने के कारण ही सूत्रकार ने यहाँ उसका उद्देश नहीं किया है। 'पदार्थधर्मसंग्रह' के व्याख्याकार पद्मनाभ[2] मिश्र का भी यही मत है। परन्तु ऐतिहासिक वैषम्य से संक्रान्त होने के कारण यह मत उपयुक्त नहीं[3] प्रतीत होता है।

उक्त प्रश्न के उत्तर में अन्यान्य मतों का निरूपण तथा उनका खण्डन मैंने 'पदार्थधर्मसंग्रह' (काशी संस्कृत-ग्रन्थमाला–१७३) की प्रस्तावना (पृ० १४–१६) तथा 'वैशेषिक दर्शनः एक अध्ययन' (पृ० २२८–१३१) में विशद रूप में किया है। अतः उन युक्तियों की पुनरुक्ति यहाँ उचित नहीं है।

उपर्युक्त स्थिति में यही कहना युक्ति-युक्त है कि सूत्रकार ने उद्योतकराचार्य आदि के द्वारा प्रदर्शित युक्तियों अथवा अभावात्मक निःश्रेयस के साध्य और षट्पदार्थ-साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान के साधन होने के कारण ही पदार्थ-विभाजक सूत्र में इसका उद्देश नहीं किया है। परन्तु यह अभाव पदार्थ सूत्रकार-सम्मत अवश्य है।

वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर

अभाव पदार्थ के समान ही ईश्वर के सूत्रकार सम्मतत्व में भी विवाद चिर-प्रचलित है। इतना तो निश्चित है कि अभी उपलब्ध वैशेषिक सूत्र में ईश्वर का स्पष्टतः उल्लेख नहीं है। परन्तु वैशेषिक सूत्र के कुछ व्याख्याकारों ने कई सूत्रों[4] में ईश्वर के निर्देश के उपपादन की चेष्टा की है। 'पदार्थधर्मसंग्रह' में प्रशस्तपादाचार्य ने भी ईश्वर का निर्देश किया है। जब तक कोई अन्य प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक यह माना जा सकता है कि प्रशस्तपाद के समय से ही वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर का स्पष्ट अभ्युपगम का प्रारम्भ हुआ है। परन्तु सृष्टि-प्रक्रिया आदि के उपपादन के लिए ईश्वर का अभ्युपगम सूत्रकार के लिए इष्ट था—ऐसा अनुमान किया जा सकता है। उदयनाचार्य ने 'किरणावली', विशेषतः 'न्यायकुसुमाञ्जलि', में ईश्वर-साधक युक्तियों का विशेष विवरण प्रस्तुत किया है।

---

१. न्या० ली०, पृ० ३६। २. सेतु, पृ० ३२।

३. विशेष विवरण के लिए देखिए—वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन; पृ० २२९–३०।

४. वै० सू० १।१।३; २।१।१८–१९; ७।२।२० आदि।

'युक्तिदीपिका' के आधार पर यह भी स्पष्ट है कि वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर के अभ्युपगम का श्रेय 'पाशुपत-सम्प्रदाय' को है।

इस प्रसङ्ग में इतना तो सुव्यक्त है कि प्रशस्तपाद के समय से आज तक जितने भी साम्प्रदायिक व्याख्याकार हुए हैं—सब एक स्वर से ईश्वर के अभ्युपगम के पक्ष में हैं। अतः किसी प्रबल विरोधी युक्ति के अभाव में ईश्वर को वैशेषिक-दर्शन-सम्मत मान लेना अनुचित नहीं है।

उपर्युक्त विषयों से अतिरिक्त अन्यान्य विषय भी वैशेषिक दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उन विषयों का संक्षिप्त परिचय सूत्र के अवलोकन से और विशद परिचय 'पदार्थधर्मसंग्रह' तथा उसकी व्याख्यात्रयी—'व्योमवती', 'किरणावली' तथा 'न्यायकन्दली'—से प्राप्त करना चाहिए। इस शास्त्र के सभी विषयों के विश्लेषणात्मक विवरण को राष्ट्रभाषा के मध्यम से प्राप्त करने की इच्छा रखनेवालों को मेरी दूसरी कृति—"वैशेषिक दर्शन: एक अध्ययन"—का भी अवलोकन करना चाहिए।

अब अन्त में मैं इस संक्षिप्त हिन्दी व्याख्या के विषय में भी अपने पाठकों से क्षमा-याचना के रूप में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। यह व्याख्या-कार्य मुख्यतः छात्रों की दृष्टि से किया गया है। यत्र-तत्र सूत्रार्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं प्रकोष्ठक में और कहीं-कहीं प्रकोष्ठक के विना ही कुछ अधिक भी लिखा गया है। प्रथम संस्करण की अशुद्धियाँ यथा सम्भव सुधार दी गई हैं फिर भी कहीं कोई भूल चुक रह गई हों तो उन त्रुटियों को विद्वान् सज्जन सुधार लेवें तथा मुझे अनुगृहीत करें।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

निवेदक—
श्रीनारायण मिश्र

॥ श्रीः ॥

वैशेषिक-दर्शनम्

प्रथमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

योग्य शिष्य की जिज्ञासा के कारण अब धर्म की व्याख्या करेंगे। (पदार्थ के धर्म

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥

जिससे अभ्युदय अर्थात् ऐहलौकिक सुख किंवा जीवन्मुक्ति और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो वही 'धर्म है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ ३ ॥

(उपर्युक्त धर्म के प्रतिपादक) वेदों की प्रामाणिकता उनके धर्मप्रतिपादक वचन होने के कारण ही है।

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥

धर्मविशेष से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय के साधर्म्य (समान धर्म = अनुगत धर्म) और वैधर्म्य (विपरीत धर्म) के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल (समय), दिशा, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और (गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म शब्द) ये चौबीस गुण हैं।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ ७ ॥

उत्क्षेपण (ऊपर की ओर गमन), अवक्षेपण (नीचे की ओर गमन), आकुञ्चन (सिकुड़ना), प्रसारण (फैलना) और गमन—ये पाँच प्रकार के कर्म हैं।

सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः ॥ ८ ॥

सत्ता से युक्त होना, अनित्य होना, (समवायिकारणीभूत) द्रव्य से सम्बद्ध होना, उत्पन्न होना, (किसी अन्य कार्य के प्रति) कारण होना, सामान्ययुक्त होना और विशेषयुक्त होना—ये द्रव्य, गुण तथा कर्म के लिए सामान्य धर्म (साधर्म्य) हैं।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥ ९ ॥

अपने सजातीय (एकजातीय) पदार्थान्तर को उत्पन्न करना साधर्म्य है।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥

द्रव्य अपने सजातीय दूसरे द्रव्यों को और गुण अपने सजातीय दूसरे गुण को उत्पन्न करते हैं।

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥ ११ ॥

एक कर्म दूसरे कर्म से उत्पन्न होता है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च बधति ॥ १२ ॥

द्रव्य अपने कार्य या अपने कारण से विनष्ट नहीं होता है।

उभयथा गुणाः ॥ १३ ॥

गुण दोनों प्रकार से (अर्थात् अपने कार्यगुण और कभी-कभी अपने कारणभूत गुण से भी) नष्ट होते हैं।

कार्यविरोधि कर्म ॥ १४ ॥

कर्म अपने कार्य से विनष्ट हो जाता है।

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

क्रिया एवम् गुण से युक्त होना तथा (अवयविद्रव्य, गुण एवम् क्रिया का) समवायिकारण होना द्रव्य का लक्षण है।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥ १६ ॥

संयोग-विभाग के अनपेक्ष कारण से भिन्न, द्रव्य में आश्रित, गुणशून्य पदार्थ को गुण कहते हैं।

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

एकद्रव्य-समवेत, गुणशून्य एवं संयोग-विभाग के लिए अनपेक्ष कारणीभूत पदार्थ कर्म हैं।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ १८ ॥

द्रव्य, गुण और कर्मों का द्रव्य ही (समवायि-) कारण है—इस अंश से समानता है। (यह साधर्म्य-प्रकरण है)।

तथा गुणः ॥ १९ ॥

वैसे ही गुण भी (द्रव्य, गुण तथा कर्म का असमवायिकारण) है।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥ २० ॥

संयोग, विभाग और वेग का (असमवायि) कारण कर्म ही है।

न द्रव्याणां कर्म ॥ २१ ॥

कर्म द्रव्यों का कारण नहीं होता है।

व्यतिरेकात् ॥ २२ ॥

(द्रव्योत्पत्ति से पूर्व ही कर्म के) अन्त हो जाने के कारण (द्रव्य का कारण नहीं होता है)।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥ २३ ॥

(दो या दो से अधिक अवयव) द्रव्यों का यह साधर्म्य है कि वे अवयविद्रव्यरूप कार्य को उत्पन्न करें।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥ २४ ॥

(द्रव्य तथा) गुण से विपरीत धर्म से युक्त होने के कारण कर्मों का कर्मान्तरोत्पादकत्व साधर्म्य नहीं है।

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥ २५ ॥

द्वित्व से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या, पृथक्त्व, संयोग और विभाग (अनेक द्रव्य से उत्पन्न होते हैं)।

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥ २६ ॥

(दो द्रव्य या अनेक द्रव्यों में) एक कर्म के समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं होने के कारण कर्म को अनेक द्रव्यों का कार्य मानना प्रमाण सिद्ध नहीं है।

संयोगानां द्रव्यम् ॥ २७ ॥

अनेक संयोगों का कार्य एक द्रव्य होता है ।

रूपाणां रूपम् ॥ २८ ॥

(अनेक अवयवद्रव्यगत) अनेक रूपों का एक रूप कार्य होता है ।

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥ २९ ॥

गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग का उत्क्षेपण एक कार्य है ।

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥ ३० ॥

संयोग और विभाग कर्म के कार्य हैं ।

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥ ३१ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

कारणसामान्य के प्रकरण में यह कहा गया है कि द्रव्य और कर्म का कारण कर्म नहीं हो सकता है ।

प्रथमा अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त ।

प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

कारणाभावात् कार्य्याभावः ॥ १ ॥

कारण का अभाव होने से कार्य का भी अभाव होता है, (अतः कार्य की सत्ता कारण की सत्ता का नियामक है) ।

न तु कार्य्याभावात् कारणाभावः ॥ २ ॥

किन्तु कार्य का अभाव होने पर भी कारण का अभाव नहीं होता है ।

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ ३ ॥

(सामान्य पदार्थ) बुद्धि की अपेक्षा से सामान्य और विशेष—इन दो प्रकारों का होता है (अर्थात् अनुवृत्तिमात्र बुद्धि से सम्बद्ध सामान्य केवल सामान्यशब्दवाच्य ही होता है—जब कि अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति-उभयविधबुद्धि से सम्बद्ध सामान्य-सामान्य तथा विशेष इन दोनों पदों से व्यवहृत होता है) ।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥ ४ ॥

भाव (द्रव्यगुणकर्मत्रयवृत्तिसत्ता) अनुवृत्ति बुद्धिमात्र के कारण होने से केवल सामान्यशब्दवाच्य ही है ।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥ ५ ॥

द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व—ये (अनुवृत्ति-बुद्धि के हेतु होने के निमित्त) सामान्य-शब्दवाच्य भी हैं और (व्यावृत्तिबुद्धि के कारण होने से) विशेषशब्दवाच्य भी हैं।

अन्यत्राऽन्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥ ६ ॥

अन्त्य विशेष पदार्थ को छोड़ कर (सामान्य के विषय में) सामान्य और विशेष शब्द का प्रयोग किया गया है।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ ७ ॥

जिसके कारण "द्रव्य सत् है", "गुणसत् है" और "कर्म सत् है" इस प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं वही सत्ता है।

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥

किन्तु यह सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म से भिन्न पदार्थ है।

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥ ९ ॥

(और भी गुण एवं कर्म में सत्ता के वर्त्तमान होने से यह सत्ता गुण भी नहीं और कर्म भी नहीं हो सकती है (कारण गुण में दूसरा गुण नहीं रहता और कर्म में भी दूसरा कर्म नहीं रह सकता)।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १० ॥

सत्ता में सामान्यविशेषद्रव्यत्वादि के नहीं रहने के कारण भी (सत्ता द्रव्य, गुण या कर्म से अभिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्य आदि में द्रव्यत्वादि सामान्य-विशेष वर्त्तमान रहते हैं)।

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥

द्रव्यमात्र में रहने वाले धर्म को द्रव्यत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १२ ॥

द्रव्यत्व में सामान्यविशेषात्मक द्रव्यत्व के नहीं रहने के कारण (द्रव्यत्व को भी द्रव्य से अभिन्न नहीं माना जा सकता)।

तथा गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

सभी गुणों में रहने वाले धर्म को गुणत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १४ ॥

गुणत्व में भी सामान्यविशेषरूप दूसरे गुणत्व के अभाव के कारण (गुणत्व को गुण से अभिन्न नहीं माना जा सकता)।

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥ १५ ॥

सभी प्रकार के कर्मों में रहने वाले धर्म को कर्मत्व कहा गया है ।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १६ ॥

कर्मत्व में भी सामान्यविशेषभूत कर्मत्व के अभाव के कारण (कर्मत्व को कर्म से अभिन्न नहीं माना जा सकता है) ।

सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैकोभावः ॥ १७ ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

(द्रव्य, गुण तथा कर्म में) सत् है—इस प्रतीति में किसी प्रकार के परिवर्त्तन नहीं होने से तथा भेदक चिह्न अथवा अनुमान के भी अभाव में (द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहने वाली) सत्ता एक ही सिद्ध होती है ।

प्रथम अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त ।

प्रथमाध्याय समाप्त ।

द्वितीयाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ १ ॥

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य पृथिवी है।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ २ ॥

रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व तथा स्नेह गुणों से युक्त द्रव्य जल है।

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ ३ ॥

(शुक्ल भास्वर) रूप तथा उष्ण स्पर्श से युक्त द्रव्य तेज है।

स्पर्शवान् वायुः ॥ ४ ॥

(अपाकज अनुष्णाशीत) स्पर्शगुणयुक्त द्रव्य वायु है।

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ ५ ॥

ये (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नाम के चार) गुण आकाश में उपलब्ध नहीं होते।

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ६ ॥

(पृथिवी के भेद) घृत, लाख और मोम में तो तेजःसंयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है (जब कि जल का द्रवत्व स्वभाविक = सांसिद्धिक होता है; अतः) पृथिवी तथा जल का केवल द्रवत्व अंश में ही साम्य है (पूर्णतः नहीं, कारण पृथ्वी का द्रवत्व पाकज है और जल का स्वाभाविक)।

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगात् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥

इसी प्रकार रांगा, सीसा, लोहा, चाँदी और सुवर्ण (तेजोविशेष) का भी द्रवत्व अग्निसंयोग से उत्पन्न होने वाला है (और जल का द्रवत्व तो स्वाभाविक है; इसलिए) केवल द्रवत्व अंश में ही पृथ्वी, तेज तथा जल में साम्य है (पूरे अंश में नहीं, कारण पृथ्वी तथा तेज का द्रवत्व पाकज है जबकि जल का द्रवत्व सांसिद्धिक है)।

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥ ८ ॥

(जिस प्रकार) गोत्वविशिष्ट गो की अनुमिति में सींग से युक्त होना, कूबड़ से विशिष्ट होना, अन्त में ही बड़े-बड़े बाल से युक्त पूँछ से संयुक्त होना तथा सास्ना (गले के नीचे लटकता हुआ चर्मवेष्टित मांस) से युक्त होना (आदि) लोकव्यवहारसिद्ध हेतु हैं।

स्पर्शश्च वायोः ॥ ९ ॥

(वैसे ही अपाकज अनुष्णाशीत) स्पर्श वायु की अनुमिति में भी हेतु है ।

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ॥ १० ॥

(क्योंकि) उपर्युक्त स्पर्श प्रत्यक्षसिद्ध पृथिवी, जल और तेज का नहीं होता है; अतः (वायु के साथ प्रत्यक्ष व्याप्तिग्रहशून्य अतएव) अदृष्टहेतुभूत स्पर्श के आश्रय के रूप में (जिस पदार्थ की सिद्धि होती है वही पदार्थ) वायु है ।

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥ ११ ॥

द्रव्य में अनाश्रित होने के कारण वायुपरमाणु भी द्रव्य है ।

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥ १३ ॥

और क्रियाश्रय एवं (स्पर्श आदि) गुणों के आश्रय होने के कारण भी (वायु-परमाणु द्रव्य ही है) ।

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

किसी अन्य अवयव द्रव्य से उत्पन्न नहीं होने के कारण वायु-परमाणु को नित्य कहा गया है ।

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् ॥ १४ ॥

(तृण आदि के ऊर्ध्वक्षेपण के द्वारा अनुमीयमान) पूर्वीय तथा पश्चिमीय आदि वायुओं के परस्पर संघट्टन से भी वायु के अनेकविधत्व की अनुमिति होती है ।

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ १५ ॥

वायु के साथ (उसके अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्शरूप हेतु के) स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का प्रत्यक्ष नहीं होता है; अतः वायु की अनुमिति में दृष्ट (अर्थात् प्रत्यक्षगृहीतव्याप्तिक) लिङ्ग नहीं उपलब्ध है ।

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥ १३ ॥

सामान्यतोदृष्ट (सादृश्यमूलक) अनुमान से तो केवल (अनुभूयमान स्पर्श के आश्रयभूत एक द्रव्य की) सामान्यरूप से सिद्धि होती है (न कि वायु—इस द्रव्य-विशेष की) ।

तस्मादागमिकम् ॥ १७ ॥

अतः उस द्रव्य के लिए वायु शब्द का प्रयोग (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता आदि) आगम (वेद) प्रमाण से सिद्ध माना जाता है ।

संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम् ॥ १८ ॥

(इन अदृष्ट पदार्थों का) नामकरण ही हम लोगों से विशिष्ट (परमेश्वर और योगी) की अनुमिति में हेतु है।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥ १९ ॥

क्योंकि नामकरण की प्रवृत्ति अभिधेय वस्तु के प्रत्यक्ष होने पर ही होती है, (जैसा लोकव्यवहार से भी सिद्ध है)।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम् ॥ २० ॥

निष्क्रमण अर्थात् बहिर्निर्गमन और अन्तर्गमन आकाश की सिद्धि में हेतु है (ऐसा सांख्य का मत है)।

तदलिंगमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥ २१ ॥

परन्तु यह हेतु नहीं हो सकता, कारण कर्म एक ही द्रव्य में समवेत होता है (एवञ्च कर्तृभूत चैत्र आदि अपने एक कर्ता में ही कर्मसमवेत होगा और वही कर्त्ता उसका समवायिकारण होगा, आकाश उसका समवायिकारण तो नहीं हो सकता। इसलिए निष्क्रमण आदि कर्म अपने समवायिकारण के रूप में आकाश का अनुमापक हेतु नहीं हो सकता)।

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥ २२ ॥

असमवायिकारण के लक्षण का तो आकाश द्रव्य में समन्वय ही नहीं होता (अतः असमवायिकारण के रूप में भी निष्क्रमण आदि कर्म आकाश का साधक नहीं हो सकता है)।

संयोगादभावः कर्मणः ॥ २३ ॥

और अशून्य स्थान में सञ्चरण आदि कर्मों का अभाव भी तो मूर्त पदार्थ के संयोग से जन्य (कर्मकारणीभूत वेग आदि के नाश से ही होता है न कि आकाश के अभाव से, क्योंकि आकाश तो व्यापक द्रव्य है, उसका अभाव तो कहीं भी नहीं हो सकता। इसलिए निष्क्रमणादि कर्म अपने निमित्त कारण के रूप में भी आकाश के साधक नहीं हो सकते) हैं।

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः ॥ २४ ॥

पृथिव्यादि कार्य पदार्थ के विशेष गुण तो उनके कारणभूत पदार्थ के गुण से जन्य देखे जाते हैं (परन्तु शब्दरूप विशेष गुण तो कारणगुणपूर्वक नहीं होता है अतः शब्द को पृथिवी, जल, तेज, तथा वायु में से किसी में भी वर्तमान गुण नहीं माना जा सकता है)।

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥ २५ ॥

(और भी,) पृथिव्यादि चार कार्यद्रव्यों के गुण में कारणद्रव्य के गुण से कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता (परन्तु शब्द के कभी मन्द, कभी मन्दतर, कभी तीव्र, तो कभी तीव्रतर होने से स्पष्ट है कि इसमें अन्तर होता है) अतः यह स्पर्शवान द्रव्य का गुण नहीं हो सकता है ।

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ॥२६॥

आत्माभिन्न द्रव्य में शब्द के समवेत होने से शब्द को आत्मा का (विशेष) गुण नहीं माना जा सकता और श्रावण प्रत्यक्ष के विषय होने के कारण शब्द को मन (दिक् तथा काल) का भी गुण नहीं माना जा सकता ।

परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य ॥ २७ ॥

अतः परिशेषानुमान की प्रक्रिया से शब्दरूप विशेषगुण अपने आश्रय के रूप में आकाश का अनुमापक हेतु होता है ।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २८ ॥

आकाश के द्रव्यत्व तथा नित्यत्व को (निरवयव) वायु (परमाणु) के द्रव्यत्व और नित्यत्व की तरह समझना चाहिए ।

तत्त्वम्भावेन ॥ २९ ॥

किन्तु द्रव्यादित्रिकवृत्ति सत्ता के समान यह आकाश भी एक है (न कि वायु के परमाणुओं के साथ उनके आनन्त्य अंश में भी आकाश की समता है) ।

शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च ॥ ३० ॥

(यदि अनेक आकाश की भी अनुमिति करेंगे तब भी हेतु तो शब्द ही होगा अतः) शब्दरूप हेतु की साधारणता के कारण भी (आकाश को वस्तुदृष्टि से एक ही मानना उचित है) और भेदसाधक लक्षण के अभाव के कारण भी आकाश का एकत्व ही सिद्ध होता है ।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति ॥ ३१ ॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

एकपृथक्त्व नियमतः एकत्व का अनुसरण करता है अतः एकत्वयुक्त आकाश का एकपृथक्त्व भी सिद्ध है ।

द्वितीय अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त ।

द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिंगम् ॥ १ ॥

केतकी पुष्प और वस्त्र का संयोग होने पर भी उस गन्ध की वस्त्र के कारणीभूत तन्तु से अनुत्पन्नता ही उस उत्कट गन्ध के वस्त्रनिष्ठाभाव का अनुमापक है (वस्त्र में भी गन्ध है, किन्तु अनुत्कट गन्ध है अतः अनुत्कट गन्ध तो वस्त्र का स्वाभाविक गुण है और पुष्पसंयोग से उपलभ्यमान उत्कट गन्ध औपाधिक है। एवञ्च गन्ध के स्वाभाविकत्व और औपाधिकत्व—इन दो रूपों की सिद्धि करना ही सूत्र का तात्पर्य समझना चाहिए)।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ २ ॥

पृथिवी का गन्ध स्वाभाविक है।

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥ ३ ॥

इसी प्रकार से उष्णता की (भी स्वाभाविक तथा औपाधिक रूप में) व्याख्या हो जाती है।

तेजस उष्णता ॥ ४ ॥

(उपर्युक्तोभयविध उष्णता में) स्वाभाविक उष्णता तेजोनिष्ठ ही है।

अप्सु शीतता ॥ ५ ॥

(इसी प्रकार शैत्य के भी स्वाभाविक तथा औपाधिक रूपों को समझना चाहिए। इनमें से) स्वाभाविक शैत्य (शीतलता) जलमात्रनिष्ठ है।

अपरस्मिन् परं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि ॥ ६ ॥

दैशिक अपर व्यक्ति में भी परत्व का ज्ञान, (तथा दैशिक पर व्यक्ति में भी अपरत्व का ज्ञान), (दो कार्यों में) युगपत् होने का ज्ञान, विलम्बज्ञान तथा शीघ्रता-ज्ञान आदि काल के अनुमापक हैं।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥

काल का द्रव्यत्व तथा नित्यत्व वायु (के परमाणुओं) के साथ-साथ ही स्पष्ट हो चुका है।

तत्त्वम्भावेन ॥ ८ ॥

सत्ता के समान एकत्व भी काल का सिद्ध है।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥ ९ ॥

नित्य आकाशादि पदार्थों के विषय में (यह अभी उत्पन्न हुआ है, यह विलम्ब से उत्पन्न हुआ है, इत्यादि प्रतीतियों के) अभाव होने से और अनित्य घट-पट आदि पदार्थों के विषय में (उपर्युक्त प्रतीतियों के) होने से काल सभी जन्य पदार्थों का निमित्त कारण है (स्ववर्ती गुणों का तो समवायिकारण ही है)।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिंगम् ॥ १० ॥

वह यहाँ से दूर है और यह यहाँ से नजदीक है—इत्यादि प्रतीतियाँ जिसके कारण होती हैं वही दिशा है।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥

दिक् का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु (के परमाणु) के द्वारा ही स्पष्ट हो चुका है।

तत्त्वम्भावेन ॥ १२ ॥

दिक् का एकत्व भी सत्ता के समान ही सिद्ध है।

कार्य्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥

दिशा का (पूर्व, पश्चिम आदि भेदों से) अनेकत्व तो केवल औपाधिक है (स्वाभाविक नहीं)।

आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ १४ ॥

(मेरु के प्रदक्षिण क्रम में) सूर्य का जिस प्रदेश से भूत, भविष्यत् अथवा वर्त्तमान काल में संयोग होता है वही (व्यवहार में) प्राचीदिक् है।

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च ॥ १५ ॥

इसी प्रकार सूर्य के संयोगविशेष के आधार पर ही दक्षिण, पश्चिम, उत्तर आदि व्यवहार होते हैं।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ १६ ॥

इसी से दक्षिणपूर्वा आदि दो दिशाओं के मध्यवर्ती दिक् का भी व्यवहार स्पष्ट हो जाता है।

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥ १७ ॥

वस्तुद्वयसाधारणधर्मयुक्त धर्मी के प्रत्यक्ष होने से, पृथक्-पृथक् दोनों वस्तुओं के विशेष धर्म के अप्रत्यक्ष होने से और (साधारणधर्मदर्शनजन्य) साधारणधर्मयुक्त वस्तुद्वय के स्मरण (= ज्ञान) से संशय का उदय होता है।

दृष्टश्च दृष्टवत् ॥ १८ ॥

पूर्वदृष्ट (स्थाणु तथा पुरुष जैसे परस्पर विरुद्ध) पदार्थों के समान ही पुरोवर्त्ती पदार्थ में वर्त्तमान ऊर्ध्वत्वादि साधारणधर्म संशय का हेतु होता है।

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥ १९ ॥

एक ही धर्मी का कदाचित् एक विशेषणयुक्त दर्शन और कदाचित् अन्य विशेषण-युक्त दर्शन के बाद अन्य काल में विशेषण के अप्रत्यक्ष से एक धर्मी में वर्तमान धर्म ही संशय का हेतु होता है।

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥ २० ॥

सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान से भी (आन्तर) संशय होता है।

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥ २१ ॥

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृह्यमाण जो विषय है वही शब्द है।

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात् ॥ २२ ॥

शब्द के श्रोत्रमात्रग्राह्यत्वरूप विशेष धर्म की शब्द के सजातीय गुणों में और उसके विजातीय द्रव्य एवं कर्म में भी अनुपलब्धि होने के कारण (शब्द द्रव्य है, गुण है या कर्म है—इस प्रकार का संशय होता है)।

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥ २३ ॥

(किन्तु अवयविद्रव्य का समवायिकारण एक ही अवयव द्रव्य नहीं होता प्रत्युत अनेक अवयव द्रव्य, जब कि शब्द का समवायिकारण एक ही द्रव्य—आकाश है) अतः एकद्रव्यसमवेत होने के कारण शब्द द्रव्य नहीं है।

नापि कर्माऽचाक्षुषत्वात् ॥ २४ ॥

(शब्द का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं, केवल श्रावण प्रत्यक्ष होता है जब कि कर्म का चाक्षुष प्रत्यक्ष ही अतः) अचाक्षुष होने के कारण शब्द कर्म भी नहीं है।

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥ २५ ॥

अतः शब्द गुण ही है, हाँ (उत्पत्ति के बाद इसका तृतीय क्षण में नाश होता है और कर्म का भी तृतीय क्षण में नाश होता है अतः) तृतीयक्षणवृत्ति ध्वंसप्रति-योगित्व अंश में केवल कर्म के साथ शब्द का साम्य है।

सतो लिंगाभावात् ॥ २६ ॥

शब्द की नित्यता के साधन में कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता (अतः शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता जिससे आकाश में कोई बाधक होगा)।

नित्यवैधर्म्यात् ॥ २७ ॥

नित्यपदार्थवृत्ति (अनुपत्त्यादि) धर्मों के अभाव होने से (यतः शब्द की उत्पत्ति प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध है) भी शब्द नित्य नहीं है।

अनित्यश्चायं कारणतः ॥ २८ ॥

कारण इसकी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण के रहने से भी शब्द अनित्य ही है।

न चासिद्धं विकारात् ॥ २९ ॥

(कारणीभूत अभिघात में तीव्रत्व-मन्दत्व आदि के कारण) शब्द में भी (तीव्रत्व मन्दत्व आदि) विकार होने से शब्द का कारणजन्यत्व असिद्ध (प्रमाणहीन) नहीं है।

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥ ३० ॥

यदि शब्द की (उत्पत्ति नहीं मानें प्रत्युत) अभिव्यक्ति ही, तो इसमें दोष आ जाएगा (क्योंकि विभिन्न अभिव्यञ्जक से अभिव्यञ्ज्यमान में एकदेशस्थत्व और एकेन्द्रियग्राह्यत्व का नियम नहीं है)।

संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥ ३१ ॥

(मृदङ्ग तथा दण्ड के परस्पर) संयोग से, (वंशखण्डद्वय के परस्पर विभाग से और पूर्व-पूर्व शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है।)

लिंगाच्चानित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥

और (जातिमत्वे सति श्रोत्रग्राह्यत्वात् आदि) हेतु से भी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥ ३३ ॥

(यदि शब्द अनित्य हो तो) गुरु तथा शिष्य की अध्यापन एवम् अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी (कारण गुरूक्त शब्द के नष्ट हो जाने पर शिष्य-श्रवण तक वह शब्द पहुँच ही नहीं पायेगा; अतः शब्द को नित्य ही मानना चाहिए—यह मीमांसकों का पूर्वपक्ष है)।

प्रथमाशब्दात् ॥ ३४ ॥

और भी (यदि शब्द अनित्य हो तो त्रिः प्रथमामन्वाह आदि श्रुतियों में एक ही ऋचा का तीन बार उच्चारण बतलाने वाले) प्रथमा शब्द की उपपत्ति नहीं होगी (कारण एक बार उच्चारित शब्द तो अनित्य होने के निमित्त नष्ट हो गया रहेगा फिर उसी का उच्चारण कैसे सम्भव हो सकेगा ?)।

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥

(सोऽयं ककारः इत्यादि) प्रत्यभिज्ञा से भी (शब्द का नित्यत्व ही प्रतीत होता है)।

सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ॥ ३६ ॥

(शब्द के अनित्यत्व के कारण) शब्द के आनन्त्य होने पर भी (सादृश्य के कारण शब्द-नित्यत्व-साधक पूर्वोपपादित अध्ययनाध्यापनप्रवृत्ति, श्रौत-प्रथमा-शब्द-प्रयोग तथा प्रत्यभिज्ञा—इन तीनों हेतुओं की उपपत्ति हो जाने से उपर्युक्त सभी हेतु नित्यत्व की सिद्धि में) अनैकान्तिक (अर्थात् व्यभिचारी) हैं। (अतः शब्द को अनित्य ही मानना चाहिए)।

संख्याभावः सामान्यतः ॥ ३७ ॥

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

वर्णों की संख्या का व्यवहार तो (तत्तत् अक्षर में रहने वाली कत्व गत्व आदि) जाति के आधार पर ही उपपन्न होता है (क्योंकि वर्ण स्वयं गुण है और संख्या भी गुण है; फिर गुण में गुण की सत्ता कैसे हो सकती है ?)।

द्वितीय अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त।

द्वितीयाध्याय समाप्त।

तृतीयाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥ १ ॥

इन्द्रियों के ग्राह्य विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) की प्रसिद्धि (ज्ञान) तो शब्दप्रसिद्धिप्रदर्शनप्रकार से ही समझी गई।

इन्द्रियार्थाप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥ २ ॥

इन्द्रिय और उनके ग्राह्य विषयों की प्रसिद्धि ही इन्द्रिय एवं उनके ग्राह्य विषयों से भिन्न आत्मरूप पदार्थ की सिद्धि में हेतु है (अर्थात् इन्द्रियार्थप्रसिद्धि से ग्रहण-करणभूत इन्द्रियों की सिद्धि और पुनः करणीभूत इन्द्रियों के द्वारा स्वप्रयोजकत्वेन एवं प्रसिद्ध्याश्रयत्वेन आत्मा की सिद्धि होती है)।

सोऽनपदेशः ॥ ३ ॥

(उपर्युक्त प्रसिद्धि (ज्ञान) के आश्रय के रूप में शरीर को सिद्ध करने वाला कार्यत्व) हेतु अनैकान्तिक है, (कारण प्रदीप से जन्य भी घट आदि पदार्थ का ज्ञान प्रदीपाश्रित नहीं माना जाता है)।

कारणाज्ञानात् ॥ ४ ॥

और शरीर के कारणीभूत शरीरावयवों में ज्ञान की प्रतीति नहीं होती है (इस-लिए भी ज्ञान—चैतन्य—को शरीर का गुण नहीं माना जा सकता, क्योंकि कारण में अवर्त्तमान गुण की उपलब्धि कार्य में कथमपि नहीं होती है)।

कार्येषु ज्ञानात् ॥ ५ ॥

(यदि सूक्ष्म रूप में शरीरावयवों में भी चैतन्य मानें तब तो अन्त्यावयव|परमाणु में भी चैतन्य मानना होगा और इस तरह घटादि में भी चैतन्य की प्रतीति होनी चाहिए परन्तु) वह प्रतीति कार्यरूप घटादि में तो किसी को भी नहीं होती, (अतः ज्ञान शरीरधर्म नहीं हो सकता)।

अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥

(घटादि पदार्थ में भी सूक्ष्म रूप में चैतन्य की सत्ता में कुछ भी) ज्ञापक नहीं होने से भी (चैतन्य को शरीरधर्म नहीं मानना चाहिए)।

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥ ७ ॥

हेतु तो साध्य से भिन्न ही होता है (साध्य के साथ हेतु के तादात्म्य मानने में अर्थात् तादात्म्य = स्वभाव हेतु जैसा कि बौद्धों का मत है) वस्तुतः शुद्ध हेतु नहीं होता है।

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्याऽनपदेशः ॥ ८ ॥

साध्य और हेतु में परस्पर भेद भी होना चाहिए; (एवम् हेतु और साध्य के सम्बन्ध का निर्धारण स्वभावविशेष से होता है न कि तदुत्पत्तिपक्ष से ही; अतः तदुत्पत्ति पक्ष के आधार पर भी आत्मानुत्पन्न श्रोत्रादि को आत्मा के साधन में हेतु नहीं मानना) उपयुक्त नहीं है ।

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥ ९ ॥

हेतु चार प्रकार का होता है—संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी और विरोधी ।

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥

कार्य रस कार्यान्तरभूत रूप का अनुमापक होता है (जैसे—यदि आम्र के रस का प्रत्यक्ष होता है तो उसके रूप का अनुमान अवश्य ही होता है, परन्तु यहाँ रस और रूप में न तो तादात्म्य ही है और न तदुत्पन्नत्व ही। अतः बौद्धमत निराधार ही है । यह उदाहरण एकार्थ-समवाय हेतु का है क्योंकि एक आम्रफल में रस और रूप का समवाय है) ।

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥ ११ ॥

विरोधीहेतु है :—अभूत (असम्प्राप्त वर्षण) भूत (अर्थात् वर्षणविरोधी वायु-घन-संयोग) का अनुमापक होता है ।

भूतमभूतस्य ॥ १२ ॥

भूत (दाहादि कर्म) अभूत (प्रतिबन्धकमण्यादिसंयोगाभाव) का अनुमापक होता है (यह भी विरोधी लिङ्ग का दूसरा उदाहरण है) ।

भूतो भूतस्य ॥ १३ ॥

कहीं भूत भी (यर्थात् वर्त्तमान सर्पविस्फूर्जन) भूत (अर्थात् आवृत नकुल) का अनुमापक होता है ।

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥ १४ ॥

और अपदेश अर्थात् हेतुनिर्देश तो व्याप्तिग्रहणपूर्वक ही होता है (एवञ्च श्रोत्रादि ज्ञानकरण के द्वारा आश्रयभूत आत्मा के अनुमान में और ज्ञानादि गुण के आश्रय के रूप में आत्मा का अनुमान में व्याप्तिग्रहण होता है, परन्तु कार्यत्व हेतु से ज्ञानाश्रय के रूप में शरीर के अनुमान में कोई व्याप्ति नही है; अतः आत्मा शरीरादि-व्यतिरिक्त ही है) ।

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥ १५ ॥

अप्रसिद्ध (अर्थात् अगृहीतव्याप्तिक व्याप्यत्वासिद्ध और विपरीतव्याप्तिक विरुद्ध) हेत्वाभास है, और असत् (अर्थात् पक्ष में अवर्त्तमान स्वरूपासिद्ध) और सन्दिग्ध (अर्थात् सव्यभिचार) भी हेत्वाभास ही होता है।

यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥ १६ ॥

(उदाहरण है: —) जिस लिए यह जीव सींग वाला है अतएव अश्व है। (यहाँ विषाणित्वहेतु स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध तथा विरुद्ध भी है; अतः इसके ऊपर निर्भर उपर्युक्त अनुमान असत् है)।

यस्माद्विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥ १७ ॥

जिस लिए यह जीव सींग से युक्त है अतएव यह गौ है—यह अनैकान्तिक का उदाहरण है (जहाँ विषाणित्व हेतु के पक्ष-सपक्ष-विपक्ष साधारण होने से साधारण अनैकान्तिक है। इसी प्रकार असाधारण तथा अनुपसंहारी अनैकान्तिक का भी उदाहरण समझना चाहिए)।

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥ १८ ॥

आत्मा (मन) इन्द्रिय और ग्राह्य वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान जो आत्मा का अनुमापक होता है वह उपर्युक्त हेत्वाभासों से भिन्न है (अतएव उसके द्वारा सम्पन्न अनुमिति यथार्थ है)।

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिंगम् ॥ १९ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमाह्निकम्।

अपनी आत्मा की प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रत्यक्ष से प्रवृत्त्यादि के साथ आत्मा की व्याप्ति के ग्रहण हो जाने पर परत्र प्रवृत्ति के दर्शन से परात्मा का भी अनुमान होता है।

तृतीय अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥ १ ॥

व्यापक आत्मा, इन्द्रिय और घट-पटादि अर्थों के सम्बन्ध होने पर ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति ही मन की सिद्धि में हेतु है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २ ॥

मन का द्रव्यत्व और नित्यत्व भी वायु (परमाणु) की तरह स्पष्ट हो चुका है।

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥ ३ ॥

अनेक प्रयत्नों के एककालिक नहीं होने और एककाल में अनेक ज्ञान के भी नहीं होने के कारण एक शरीर में एक ही मन है।

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ ४ ॥

वायु का ऊर्ध्वसञ्चार, वायु का अधोगमन, पलक खोलना और पलक बन्द करना, इन्द्रिय के विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—ये आत्मा के अनुमापक हेतु हैं।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ५ ॥

आत्मा का द्रव्यत्व तथा उसका नित्यत्व वायु-परमाणु के ही समान समझना चाहिए।

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंगं न विद्यते ॥ ६ ॥

इन्द्रिय और यज्ञदत्तपदवाच्य व्यक्ति के साथ सन्निकर्ष होने पर भी यज्ञदत्त-शरीरस्थ आत्मा के प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण आत्मसाधक दृष्ट हेतु नहीं है (यहाँ से सू० ३।२।८ सूत्र तक आत्मा के विषय में अनुमान की सम्भावना का उपस्थापक पूर्वपक्ष है)।

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥ ७ ॥

सामान्यतो दृष्ट हेतु से भी ज्ञान आदि का क्वचिदाश्रितत्वमात्र सिद्ध होता है न कि विशेष रूप से आत्मा की भी सिद्धि होती है।

तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥

अतः आत्मा की सिद्धि केवल आगमप्रमाण से माननी चाहिए (यहाँ तक पूर्व पक्ष है। इसके आगे सूत्रकार अनुमान का भी आत्मा के विषय में समर्थन करने जा रहे हैं)।

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९ ॥

'अहं' शब्द के पृथिव्यादि भूत के विषय में अप्रयोग होने से (तत्पदवाच्य आत्मा का अनुमान भी होता है) केवल आगम से ही आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥ १० ॥

यदि अहम् देवदत्तः, अहं यज्ञदत्तः इत्यादि प्रतीतियाँ प्रत्यक्ष ही हैं (जिनके कारण अहम्पदवाच्यरूप से आत्मा का अनुमान बतलाया जाता है तब प्रत्यक्ष अहम्पदवाच्य आत्मा के विषय में अनुमान ही क्यों किया जाय ?)।

दृष्ट्यात्मनि लिंगे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ ११ ॥

अहम्पदवाच्य आत्मा के प्रत्यक्ष होने पर भी यदि आत्मानुमान साधक हेतु वर्तमान है तो दृढता लाने के लिए प्रत्यक्ष के समान ही आत्मा के विषय में अनुमिति भी की जाती है।

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥ १२ ॥

(यद्यपि अहं यज्ञदत्तः आदि प्रत्यय आत्मविषयक है, और आत्मा शरीर भिन्न होने के कारण गच्छति, आदि क्रियाओं के साथ अन्वित नहीं हो सकती है, किन्तु यज्ञदत्तो गच्छति ऐसा प्रयोग सर्वानुभवसिद्ध है, अतः 'यज्ञदत्तः अहम्' में अहम्पदार्थ समानाधिकरण यज्ञदत्तादिपदार्थ आत्मा नहीं है—ऐसा ही प्रतीत होता है तथापि) देवदत्तो गच्छति, यज्ञदत्तो गच्छति आदि प्रयोग आत्मसम्बद्ध शरीर के लिए औपचारिक अर्थात् गौण है (अतः यज्ञदत्तादि पद का आत्मविषयकत्व अनुपपन्न नहीं होता)।

सन्दिग्धास्तूपचाराः ॥ १३ ॥

(आत्मा और शरीर दोनों ही के लिए अहम् (यज्ञदत्तादि) पद का प्रयोग लोकसिद्ध है; फिर तो) सन्देह ही है कि अहम्पद का प्रयोग आत्मा के विषय में औपचारिक है या शरीर के विषय में ? (यह पूर्वपक्ष है)।

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥ १४ ॥

अहम् यह प्रतीति स्वात्मविषयक होती है और परात्मविषयक नहीं, अतः अहम्विषयक प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न अर्थ—आत्मा-के ही विषय में होता है।

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहङ्कारः ॥१५॥

(पुनः पूर्वपक्ष हैः—) देवदत्तो गच्छति आदि प्रयोग को औपचारिक मानना यथार्थ नहीं है (कारण अहं कृशः आदि सहस्र प्रत्ययों को औपचारिक मानने में कुछ प्रमाण नहीं है) अतः अहम्विषयक प्रत्यक्ष शरीरविषयक ही है (न कि आत्म-विषयक)।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥

उपर्युक्त उपचार में अयथार्थत्व और अतएव अहम्विषयक प्रत्यक्ष को शरीर-विषयक मानना भी तो सन्दिग्ध ही है।

न तु शरीरविशेषाद्यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥ १७ ॥

(किञ्च यदि अहम्प्रत्यय शरीरविषय हो तब तो ज्ञानादि गुण भी शरीरनिष्ठ होंगे एवञ्च परस्पर भिन्न शरीरनिष्ठ ज्ञानादि का शरीरगतरूपादि की तरह प्रत्यक्ष होना चाहिए) किन्तु यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के परस्पर भिन्न शरीर के प्रत्यक्ष

होने पर भी उनके ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है (अतः अहम्प्रत्यय का शरीरविषयकत्व वास्तव नहीं अपितु औपचारिक है, इस प्रत्यय की वास्तविकता आत्मविषयकत्व में ही है)।

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद्व्यतिरेकाव्यभिचाराद्विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥ १८ ॥

जैसे पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों में शब्द के अभाव के निश्चित होने से शब्दगुण अपने आश्रयभूत आकाश का अनुमापक होता है उसी तरह मुख्य तथा प्रमाणसिद्ध अहमाकारक ज्ञान के शरीरादि में अभाव के निश्चित होने के कारण सिद्ध अहम्पदार्थ आत्मा को केवल आगमप्रमाण या अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध नहीं समझना चाहिए (प्रत्युत निमीलिताक्ष को भी अहमाकारक मानसप्रत्यक्ष होने से मानसप्रत्यक्ष को भी आत्मसिद्धि में प्रमाण मानना चाहिए)।

सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥ १९ ॥

सुख दुःख, ज्ञान आदि की निष्पत्ति की समानता होने से सर्वशरीरावच्छेदेन एक ही आत्मा की सत्ता माननी चाहिए (यह पूर्वपक्ष है)।

व्यवस्थातो नाना ॥ २० ॥

(सुख, दुःख आदि आत्म-गुणों की जिस किसी शरीर से अवच्छिन्न आत्मा में अभिव्यक्ति होती है, अन्यत्र नहीं इत्यादि) प्रति शरीर भिन्न-भिन्न स्थिति के कारण आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है (न कि एक)।

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥ २१ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

(द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, द्वा सुपर्णा सयुजा आदि) वेदशास्त्र के प्रामाण्य से भी आत्मा का नानात्व सिद्ध होता है ।

तृतीय अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त ।

तृतीयाध्याय समाप्त ।

चतुर्थाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥

(पृथिवी के दो प्रकार हैं :—नित्य तथा अनित्य; पदार्थ उनमें सभी कालों में) विद्यमान कारणहीन पदार्थ (परमाणु) नित्य है।

तस्य कार्य्यं लिंगम् ॥ २ ॥

परमाणुद्वय-संयोग से द्व्यणुक एवम् द्व्यणुकत्रयसंयोग से त्र्यणुक की पद्धति से उपलभ्यमान घट-पट आदि स्थूल) कार्य (अपने मूल कारणीभूत) परमाणु की अनुमिति में हेतु होते हैं।

कारणाभावात् कार्य्याभावः ॥ ३ ॥

(यह परमाणुरूपादि गुणों से भी युक्त होता है। क्योंकि) कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। (एवञ्च यदि मूलकारण परमाणु में रूपादि की सत्ता न मानें तब तो द्व्यणुकादि स्थूल-पर्यन्त कार्य में रूपादि की उपलब्धि नहीं सम्भव थी किन्तु घट-पटादि कार्य में रूपादि की उपलब्धि होती है। अतः परमाणु में भी रूपादि की सत्ता की अनुमिति होती है)।

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ ४ ॥

यह अनित्य है—इस प्रकार का अभाव ही (अपने प्रतियोगी के रूप में) नित्य पदार्थ की सिद्धि करता है (कारण अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव नहीं होता है)।

अविद्या ॥ ५ ॥

(परमाणु को अनित्य सिद्ध करने वाली सारी अनुमितियाँ) भ्रम हैं।

महत्यनेकद्रव्यवत्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः ॥ ६ ॥

महत्परिमाणवत्व (अवयविद्वारा अवयवात्मक) अनेकद्रव्याश्रितत्व तथा (उद्भूत) रूपवत्व के होने पर ही द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है (परमाणु में तो इन तीनों के अभाव ही हैं, अतः परमाणु हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता एवञ्च प्रत्यक्ष नहीं होने मात्र से परमाणु की असत्ता नहीं हो सकती)।

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद्वायोरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥

(अवयविद्वारा अवयवात्मक) अनेक द्रव्याश्रितत्व और महत्परिमाणवत्त्व के रहने पर भी, वायु में रूपसंस्कार (अर्थात् रूप का समवाय, उसका उद्भूतत्व नहीं होने से

वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। (अतः उपर्युक्त द्रव्य-चाक्षुष-प्रत्यक्ष-कारणता को त्रित्वपर्याप्त ही मानना चाहिए)।

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोलब्धिः ॥ ८ ॥

अनेक द्रव्य समवेतत्व तथा (उद्‌भूतत्व, रूपत्व आदि) रूप विशेष होने पर रूप का भी प्रत्यक्ष होता है।

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

उपर्युक्त रूप-प्रत्यक्ष के प्रकार के वर्णन से ही रस, गन्ध तथा स्पर्श के प्रत्यक्ष-प्रकार का विवरण हो गया।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ १० ॥

(गुरुत्व में) रूप विशेष के अभाव होने से (उसका यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप की तरह नहीं भी होता है तब भी) कोई दोष नहीं आता।

सङ्ख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपद्रव्यसमवायात् चाक्षुषाणि ॥ ११ ॥

रूपवान् द्रव्य में समवेत संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग-विभाग, परत्व-अपरत्व और कर्म का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ १२ ॥

किन्तु रूपरहित पदार्थ में वर्त्तमान संख्यादि उपर्युक्त गुण चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय नहीं होते हैं। (इस प्रकार स्पष्ट है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द का केवल एक एव बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है परन्तु संख्यादि गुणों का यथासम्भव चक्षु एवम् स्पर्शेन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है)।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमाह्निकम्।

इस प्रकार (अर्थात् सख्याद्याश्रय द्रव्य-ग्राहक-इन्द्रिय से ही तन्निष्ठ संख्यादि गुणों के प्रत्यक्ष के निर्देश से) गुणत्व तथा द्रव्यादित्रिक वर्तमान सत्ता के विषय में भी (गुणत्वाश्रयीभूत पदार्थ एवं सत्ताश्रयीभूत पदार्थ की तत्तदिन्द्रियग्राह्यता के आधार पर) यथासम्भव सर्वेन्द्रिय (तत्तदिन्द्रिय) ग्राह्यत्व समझना चाहिए।

चतुर्थ अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

चतुर्थाध्याये द्वितीयाह्निकम्

तत्पुनः पृथिव्यादिकार्य्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥ १ ॥

ये पृथिवी आदि कार्य द्रव्य भी शरीर, इन्द्रिय तथा (उभयातिरिक्त) विषय के नाम से तीन प्रकार के होते हैं।

प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष वस्तुओं के संयोग के अप्रत्यक्ष होने के कारण शरीर को (प्रत्यक्ष = पृथिवी, जल तथा तेज एवम् अप्रत्यक्ष = वायु एवम् आकाश के संयोग से निष्पन्न) पाञ्चभौतिक नहीं माना जा सकता (यदि ऐसा मानें तब तो जैसे प्रत्यक्ष वृक्ष का अप्रत्यक्ष वायु के साथ अप्रत्यक्ष ही होता वैसे मानव-शरीर अप्रत्यक्ष ही हो जाता)।

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ॥ ३ ॥

(जल तथा तेज के) गुण (= प्रवाह एवम् शुक्लभास्वरूप उष्णता आदि) के अभाव से (केवल पृथिवी, जल तथा तेज-इन प्रत्यक्ष) पदार्थ-त्रय-जन्य भी नहीं माना जा सकता।

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥ ४ ॥

शरीर को अप्रत्यक्षाप्रत्यक्ष-संयोगाभाव तथा प्रत्यक्षमात्रसंयोगाभाव कहने का तात्पर्य है कि शरीर-द्रव्य का असमवायि कारण प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष-संयोग अथवा प्रत्यक्ष-त्रय-संयोग नहीं है;) शरीर के साथ अन्य द्रव्य के परमाणुओं का संयोग इस प्रतिषेध का विषय नहीं हैं (यही कारण है कि अन्य तेजः प्रभृति परमाणुओं के शरीर के साथ संयोग होने से शरीर में पाकादि क्रिया भी होती है। अतः मानव-शरीर को केवल पार्थिव मानना चाहिए, कारण पृथिवी का विशेष गुण-गन्ध वर्तमान है)

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥ ५ ॥

यह शरीर दो प्रकार का है—योनिज तथा अयोनिज।

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥ ६ ॥

अनियतदिग्देश (= परमाणु) पूर्वक होने से (अयोनिज शरीर देवताओं का सिद्ध होता है)

धर्मविशेषाच्च ॥ ७ ॥

(अयोनिज शरीर के कारण परमाणुओं में क्रिया तो) अदृष्ट के कारण होती है।

समाख्याभावाच्च ॥ ८ ॥

(वेदादि शास्त्रों के "दुर्वासः प्रभृतयः मानसाः" आदि) उपाख्यानों से भी (अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है) ।

संज्ञाया आदित्वात् ॥ ९ ॥

सर्ग के आदि में कृत (ब्रह्मा आदि) संज्ञा से भी (अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है, कारण सर्गादि में उत्पन्न ब्रह्मा आदि के माता-पिता की तो सत्ता नहीं थी) ।

सन्त्ययोनिजाः ॥ १० ॥

(उपयुक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि) अयोनिज शरीर हैं ।

वेदलिङ्गाच्च ॥ ११ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

और ("मुखतो ब्राह्मणसृजत्" "पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" आदि) वेद के प्रामाण्य से भी (अयोनिज शरीर सिद्ध है) ।

चतुर्थ अध्याय में द्वितीयाह्निक समाप्त ।

चतुर्थाध्याय समाप्त ।

पञ्चमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ १ ॥

प्रयत्नवान् आत्मा के (उत्क्षेपण आदि कर्म के समवायिकारण) हस्त में संयोग होने से उत्क्षेपण कर्म की उत्पत्ति होती है ।

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥ २ ॥

उत्क्षेपणकर्मयुक्त हस्त के मुसल के साथ संयोग होने से मुसल में उत्क्षेपणाख्य कर्म की उत्पत्ति होती है ।

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥ ३ ॥

किन्तु उदूखल में अभिघात से उत्पन्न होनेवाले मुसलोत्पतन कर्म में हस्त-मुसल संयोग (असमवायि) कारण नहीं होता है क्योंकि उस हस्त के साथ प्रयत्नयुक्त आत्मा का संयोग नहीं रहता ।

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥ ४ ॥

इसी प्रकार उदूखल में अभिघात से उत्पतित मुसल के साथ होनेवाले हस्तोत्पतन में भी प्रयत्नवदात्मसंयोग (असमवायि) कारण नहीं होता है ।

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥ ५ ॥

(उदूखल में मुसल के) अभिघात (रूप निमित्त कारण) से तथा मुसलहस्त संयोगरूप (असमवायि कारण) से (उत्पतित-मुसल-संयुक्त) हस्त में (उत्पतनाख्य) कर्म की उत्पत्ति होती है ।

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

एवञ्च शरीरावयव हस्त आदि में उत्पन्न कर्म का असमवायिकारण कहीं प्रयत्नवदात्महस्तसंयोग (जैसे—अभिघातासम्पृक्त मुसल-संयुक्त-हस्तोत्पतन में) और कहीं वेगवन्मुसलादि हस्तसंयोग (जैसे अभिघातजन्य मुसलोत्पतनसमकालिक हस्तोत्पतन में) होता है ।

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ७ ॥

संयोग, (विधारक प्रयत्न तथा वेग आदि पतन प्रतिबन्धक तत्त्व) के अभाव होने पर गुरुत्व रूप असमवायिकारण से द्रव्य का अधः पतन (= अवक्षेपण) कर्म उत्पन्न होता है ।

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥ ८ ॥

नोदनविशेष (तीव्रतर नोदन के) अभाव से ऊर्ध्वगमन और तिर्य्यग्गमन उत्पन्न नहीं होता है ।

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥ ९ ॥

प्रयत्न विशेष से नोदनविशेष उत्पन्न होता है ।

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥ १० ॥

(और) नोदनविशेष से उदसनविशेष (अर्थात् ऊर्ध्वगमनादि) उत्पन्न होते हैं ।

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

(उदूखल के अभिघात से उत्पतनशील मुसल से संयुक्त) हस्त में जो उत्पतन उत्पन्न होता है वह प्रयत्नपूर्वक नहीं होता है अतः) उस कर्म को बालक के (प्रयत्नहीन अत एव पुण्य-पापसम्पर्करहित) कर्म के समान (पुण्य-पाप का अप्रयोजक) समझना चाहिए ।

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥ १२ ॥

(जैसे प्रयत्नहीन कर्म के पुण्य-पापान्यतर-जनकत्व नहीं होता है । वैसे ही (कुछ प्रयत्न-पूर्वक कर्म भी हैं जिनमें पुण्यपापान्यतरजनकत्व नहीं होता है । जैसे— आततायि-पुरुष के द्वारा दाह्यमान् गृह में) दग्ध पुरुष के शरीर में वह्निकृत विस्फोट होने पर (दग्ध पुरुष के आततायिवधानुरूपप्रयत्न-जन्य हस्तकर्म भी पुण्य-पापान्यतरप्रयोजक नहीं होता है) ।

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥ १३ ॥

(कुछ कर्म) प्रयत्न के विना भी (होता है; जैसे—) प्रसुप्त मनुष्य का पादचालन आदि ।

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥ १४ ॥

तृण (वृक्षादि) में क्रियोत्पत्ति वायुतृणसंयोग से होती है ।

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम् ॥ १५ ॥

(तस्करादिपरिचयनार्थ अभिमन्त्रित) मणि (आदि) का गमन तथा अयस्कान्त (चुम्बक) की ओर सूची (सूई) आदि का उपसर्पण अदृष्ट (अर्थात् धर्माधर्म रूप निमित्त कारण एवं अदृष्टवदात्मसंयोग रूप असमवायि कारण) से उत्पन्न होता है ।

इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥ १६ ॥

बाण के (धनुष्प्रदेश से लक्ष्यसंयोग तक) अनेक संयोगों के कारण (आरम्भ से उपरमतक) तत्तत् संयोगनाश्य कर्म (=व्यापार) भी अनेक हैं (न कि प्रारम्भ से उपरम तक एक ही कर्म होता है)।

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तर-मुत्तरं च ॥ १७ ॥

शर के (प्रारम्भ से उपरमपर्यन्त अनेक कर्मों में) प्रथम कर्म तो (पुरुषप्रयत्न-जन्य) नोदन से उत्पन्न होता है और उस प्रथम कर्म से जन्य एक ही वेगाख्य संस्कार से उत्तरोत्तर क्रम में उत्तरोत्तर कर्म की उत्पत्ति होती है।

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ १८ ॥

इति पञ्चमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

किन्तु जब संस्कार नष्ट हो जाता है तब पुनः पूर्वानुवर्तमान गुरुत्व से शर का पतन भी होता है।

पञ्चम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥ १ ॥

(विभाग तथा शब्द के अप्रयोजक) नोदन (नामक संयोग), अभिघात (अर्थात् विभाग तथा शब्द के प्रयोजक संयोग) तथा अभिघातादियुक्त (घट-पटादि) के संयोग से पृथिवी में कर्म की उत्पत्ति होती है।

तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ॥ २ ॥

(पुरुष के) कर्माशय से उत्पन्न (भूकम्प आदि) पृथिवीगतकर्म अदृष्टजन्य होते हैं (अथवा नोदन एवम् अभिघात तथा संयुक्तसंयोग से उत्पन्न कर्मों से भिन्नविध पृथिवीकर्म अदृष्टजन्य होते हैं)।

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ३ ॥

जल का अधःपतन (= वर्षण) उसके वायु-मेघ-संयोगाभाव गुरुत्व (निमित्त-कारण) से तथा (असमवायिकारण) से होता है।

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥ ४ ॥

द्रवत्व (असमवायिकारण तथा गुरुत्व निमित्तकारण) से (पृथिवीपतित जल बिन्दुओं का परस्पर संयोग जन्य) स्यन्दन अर्थात् दूर संसरण होता है।

नाड्या वायुसंयोगादारोहणम् ॥ ५ ॥

और सूर्यकी किरणें ही वायु के संयोग के जल को (बाष्प रूप में) ऊपर ले जाती हैं (जिससे बाद में वर्षा होती है)।

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

प्रबल वायु के नोदन (संयोग विशेष) से उत्पन्न आपीड़न अर्थात् दबाव से (विशृङ्खलित जल-परमाणु) वायुसंयुक्त सूर्यकिरण के सहारे (बाष्परूप में) ऊपर उड़ते हैं।

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥ ७ ॥

(और वृक्षमूल में सिक्त जल का) पूरे वृक्ष में उद्गमन तो अदृष्टजन्य होता है।

अपां सङ्घातो विलयनं च तेजःसंयोगात् ॥ ८ ॥

(स्वतः द्रव) जल परमाणुओं का (करका हिम आदि के रूप में) संघात एवम् पुनः तरल जल के रूप में परिवर्त्तन तो (विद्युत् आदि बलवत्तर) तेजःसंयोग से होता है।

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥ ९ ॥

(मेघस्थल जल के साथ दिव्य विद्युदादि) तेजःसंयोग की सिद्धि में विद्युत् की कड़क ही प्रमाण है।

वैदिकं च ॥ १० ॥

(उपर्युक्त जल तथा तेज के संयोग में) वेद भी (जैसे—आपस्ताः अग्निं गर्भमादधीरन् आदि) प्रमाण है।

अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥ ११ ॥

मेघस्थ जल और मेघ के वायुकृत संयोग और विभाग के निमित्त मेघगर्जन होता है।

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

पृथिवी-कर्म के साथ-साथ (सामान्यरूप से) तेज तथा वायु के कर्मों की भी व्याख्या हो जाती है।

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ॥ १३ ॥

(सृष्टि के प्रारम्भ में) अग्नि के सर्व प्रथम ऊर्ध्वज्वलन का, वायु के सर्व प्रथम तिर्यग्गमन (अर्थात् टेढ़ी गति) का परमाणु तथा मन के प्रथम कर्म का उत्पादन अदृष्ट से होता है।

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

(आदि कर्म को छोड़ कर शेष अर्थात् द्वितीयादि) मनः-कर्म की व्याख्या तो हस्त-कर्म की व्याख्या के समान समझनी चाहिए।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥ १५ ॥

आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ और मन के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा में सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है। (तात्पर्य यह है कि मन के कर्म के बिना इन्द्रियों के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता अतः मन को सक्रिय एवं शीघ्रक्रिया मानना चाहिए।

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः ॥ १६ ॥

मन के आत्ममात्र निष्ठ हो जाने पर मनःकर्म के अभाव से शरीरावच्छिन्न आत्मा में दुःख का अभाव ही योग है।

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्ट-कारितानि ॥ १७ ॥

(शरीरारम्भकः कर्म के क्षीण हो जाने पर पूर्व शरीर से प्राण तथा मन का) उत्क्रमण, (देहान्तर में) प्रवेश (माता-पिता के) खान-पान (से उत्पन्न रज-वीर्य) के संयोग का हेतुभूत कर्म, गर्भशरीर तथा उसके साथ (प्राण तथा मन आदि का) संयोग अदृष्ट जन्य है।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥ १८ ॥

शरीरधारक मनःकर्म के अभाव होने पर उस शरीर से आत्मा के संयोग के अभाव और शरीरान्तर के अनुत्पाद की दशा में जो दुःखध्वंस होता है वही मोक्ष है।

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ॥ १९ ॥

(प्रयत्न, नोदन-अभिघात, गुरुत्व-द्रवत्व, संस्कार = वेग—ये कर्म के कारण कहे गये हैं परन्तु अन्धकार में चलनरूप कर्म का तो उपर्युक्त प्रयोजकों में से एक भी नहीं है, अतः उसकी क्रिया का उत्पादक किसी अन्य तत्त्व को मानना चाहिए—इसी प्रश्न का उत्तर है कि—) द्रव्य, गुण तथा कर्म की सिद्धि के लक्षण के अभाव रहने से अन्धकार वस्तुत तेजोऽभाव ही है।

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥ २० ॥

(अन्धकार की प्रतीति तो केवल) द्रव्यान्तर से तेज के आवृत हो जाने के कारण ही होती है (अतः वह तेजोऽभाव ही है)।

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥ २१ ॥

क्रियावान् द्रव्य के मूर्त्तत्वधर्म के अभाव से युक्त होने के कारण दिक्, काल तथा आकाश निष्क्रिय माने जाते हैं।

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥ २२ ॥

क्रियावद्वैधर्म्य के कारण दिक् आदि के निष्क्रियत्व सिद्ध होने पर तुल्य युक्ति से गुण तथा कर्म का निष्क्रियत्व सिद्ध हो जाता है।

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥ २३ ॥

निष्क्रिय गुण तथा कर्म पदार्थों का द्रव्य के साथ सम्बन्ध भी अनुत्पाद्य समवाय ही होता है (संयोग नहीं)।

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥ २४ ॥

(गुणान्तर तथा कर्म की उत्पत्ति में) गुण समवायि कारण होता है (समवायिकारण नहीं क्योंकि गुण मूर्त्त नहीं है)।

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २५ ॥

गुण के समान ही (अमूर्त्त होने के कारण) दिक् किसी कर्म का समवायिकारण नहीं होता है।

कारणेन कालः ॥ २६ ॥

इति पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

निमित्तकारण होने के कारण काल भी कर्म का आधारमात्र है (समवायिकारण नहीं)।

पञ्चम अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त।

पञ्चम अध्याय समाप्त।

षष्ठाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद के वाक्यों की रचना वक्ता की बुद्धि से हुई है।

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥ २ ॥

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञादि का नामकरण भी (वेद की वाक्य रचना में बुद्धिपूर्वकत्व का) प्रमाण है।

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥ ३ ॥

(वेद में गां दद्यात् आदि वाक्यों में) दा-धातु प्रतिपादित दान-कर्म भी (इष्टसाधनता) बुद्धिपूर्वक ही हो सकता है।

तथा प्रतिग्रहः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार प्रतिग्रह भी इष्टसाधनता ज्ञानपूर्वक ही होता है।

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥ ५ ॥

एक आत्मनिष्ठ यागादि अन्य आत्मा में सुखादि-कारण की उत्पत्ति में कारण नहीं होते हैं (किन्तु उसी आत्मा में पुण्यादि का उत्पादन करते हैं)।

तद्दुष्टभोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

(तथापि पुत्र के द्वारा अपने पिता के श्राद्ध में भोजित ब्राह्मणों के आशीर्वाद से पिता को भी पुत्रकृत श्राद्धादिकर्म का फल मिलता है।) परन्तु वह फल दुष्ट ब्राह्मणों के भोजन से नहीं मिलता है।

दुष्टं हिंसायाम् ॥ ७ ॥

निषिद्ध आचार में लीन पुरुष ही दुष्ट कहलाता है।

तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥ ८ ॥

उस दुष्ट पुरुष के साथ एक पंक्ति में भोजन करने से भी पाप होता है।

तददुष्टे न विद्यते ॥ ९ ॥

परन्तु अदुष्ट पुरुष के विषय में ऐसी बात नहीं होती (अर्थात् अदुष्ट पुरुष के साथ एक पंक्ति में भोजन करने पर भी पाप नहीं होता है)।

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥ १० ॥

(यदि पहले अपने से विशिष्ट व्यक्ति के अभाव में दुष्ट को ही संख्यापूर्त्यर्थ निमन्त्रित कर दें परन्तु बाद में अदुष्ट पुरुष की उपलब्धि हो तो) पुनः विशिष्ट व्यक्ति को ही खिलाना चाहिए (और निमन्त्रित दुष्टों को द्रव्यादि देकर सन्तुष्ट कर देना चाहिए) ।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥ ११ ॥

अपने से विशिष्ट पुरुष के अभाव में अपने समान और उसके भी अलाभ होने पर अपने से हीन भी अदुष्ट पुरुष को भोजन देना चाहिए ।

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

(जैसे दान के विषय में विशिष्ट, सम तथा हीन व्यक्ति का नियम है) वैसे ही दान लेने में भी अदुष्ट स्वविशिष्ट, अदुष्ट स्वसमान तथा अदुष्ट स्वहीन व्यक्तियों का नियम समझना चाहिए (इस प्रकार के प्रतिग्रह से पुण्य होता है) ।

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥ १३ ॥

इसी प्रकार विरुद्धों का त्याग अर्थात् वध भी धर्म-साधन है ।

हीने परे त्यागः ॥ १४ ॥

यदि आततायी अपने से हीन हो तो उसका वध करना चाहिए ।

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥ १५ ॥

यदि विरोधी अपने समान हो तो अपना ही अवसाद करना चाहिए अथवा अपने विरोधी का ही वध करना चाहिए ।

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥ १६ ॥

इति षष्ठाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

और यदि अपने से विशिष्ट व्यक्ति विरोधी हो तो आत्मत्याग ही करना चाहिए।

षष्ठ अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त ।

षष्ठाध्याये द्वितीयाह्निकम्

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥ १ ॥

दृष्ट फल-कर्म (जैसे—कृषि आदि) तथा अदृष्ट-फल-कर्मों में जिसका दृष्ट प्रयोजन नहीं होता हो उसके प्रयोजन के रूप में अभ्युदय रूप अदृष्ट फल की कल्पना करनी चाहिए ।

अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्-नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥ २ ॥

(गङ्गा आदि तीर्थों में) स्नान, (एकादशी आदि में) व्रत, ब्रह्मचर्य, (वेदाध्ययन के लिए) गुरुकुल में निवास, वानप्रस्थाश्रम परिग्रह, यज्ञ, दान, व्रीह्यादि के प्रोक्षण, (भोजनादि कृत्य में) दिशा के नियम, (यज्ञादि के लिए) नक्षत्र के नियम, (तत्तत्कर्म में तत्तत्) मन्त्र के प्रयोग के नियम तथा (यज्ञादि के अनुष्ठान के लिए) काल के नियम से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है।

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥ ३ ॥

चतुर्विध आश्रम-धर्म के अनुष्ठान से भी अदृष्ट की उत्पत्ति होती है; और उपधा तथा अनुपधा से भी अदृष्ट (अधर्म तथा धर्म) की उत्पत्ति होती है।

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥ ४ ॥

कर्माचरण की भावना में रागादि दोष ही उपधा है और उस भावना में आस्तिक्य बुद्धि आदि अनुपधा है।

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥ ५ ॥

प्रत्यर्पणीय वस्तु का शास्त्रोक्त रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श, (व्रीह्यादि का शास्त्रानुसार) प्रोक्षण और (अन्नादि का मन्त्र के विना ही जल से) अभ्युक्षण—ये शुचि अर्थात् धर्म-साधन हैं।

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

शुचि से भिन्न अशुचि है अर्थात् अधर्म-साधन है।

अर्थान्तरं च ॥ ७ ॥

उपर्युक्त धर्म-साधन भी भावदुष्ट अथवा वाग्दुष्ट हों तो वे अधर्म-साधन बन जाते हैं।

अयतस्य शुचि भोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद् विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य ॥ ८ ॥

धर्म-साधक भोजनादि से भिन्न धर्म-सिद्धि में सहकारी नियम के अभाव होने से असंयत व्यक्ति का पवित्र भोजन भी पुण्यजनक नहीं होता परन्तु यदि व्यक्ति स्वयं भी संयत हो तब अवश्य ही पवित्र भोजन से धर्म होता है।

असति चाभावात् ॥ ९ ॥

इसी तरह स्वयं व्यक्ति के संयत होने पर भी यदि भोजनादि अशुचि होता है तब भी धर्म नहीं होता है; (अतः दोनों की शुद्धि धर्म के लिए अपेक्षित है)।

सुखाद्रागः ॥ १० ॥

(विषय-भोगजन्य) सुख से राग (इच्छा) होता है (और यह राग भी अदृष्ट-साधन है)।

तन्मयत्वाच्च ॥ ११ ॥

विषयाभ्यासजन्य संस्कार से भी (राग होता है)।

अदृष्टाच्च ॥ १२ ॥

(कहीं कहीं) अदृष्टवश भी (राग आदि की उत्पत्ति होती है)।

जातिविशेषाच्च ॥ १३ ॥

जाति-विशेष से भी राग होता है (जैसे :—मृगजातीय का तृण में राग होता है)।

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माऽधर्मप्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

विहित-कर्म में राग-प्रयुक्त तथा निषिद्ध कर्म में द्वेषप्रयुक्त प्रवृत्ति होती है।

तत्संयोगो विभागः ॥ १५ ॥

अदृष्ट के कारण ही जन्म और मरण होते हैं।

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ १६ ॥

इति षष्ठाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

आत्मा के श्रवणादि कर्म के परिपूर्ण होने पर जन्म-मरण-शृङ्खला से मोक्ष मिलता है।

षष्ठ अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त।

षष्ठ अध्याय समाप्त।

सप्तमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

उक्ता गुणाः ॥ १ ॥

गुण का उद्देश तथा लक्षण किया गया।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ २ ॥

(अवयवीरूप) पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श अपने आश्रयभूत पृथिवी आदि द्रव्यों के अनित्य होने के कारण अनित्य होते हैं।

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नित्य द्रव्य के उपर्युक्त गुण नित्य होते हैं।

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥ ४ ॥

जल (के परमाणुओं) में (रूप, रस तथा स्पर्श), तेजःपरमाणु में (रूप; स्पर्श) और वायु-परमाणु में (स्पर्श) नित्य होते हैं।

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ॥ ५ ॥

और अनित्य (अर्थात् अवयविरूप जल, तेज, वायु) में (रूप, रस, स्पर्श) अनित्य माने जाते हैं।

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥ ६ ॥

(कार्य) पृथिवी में (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) स्थूल के कारणीभूत अवयव के (रूप, रस, गन्ध, स्पर्शात्मक असमवायिकारणीभूत) गुणों से उत्पन्न होते हैं और तेजःसंयोग से (कार्य तथा नित्य—उभयविध पृथिवी में) परिवर्तित होते हैं।

एकद्रव्यत्वात् ॥ ७ ॥

(परमाणुस्वरूप) एक ही (अर्थात् अखण्ड नित्य) द्रव्य में समवेत होने के कारण भी (पृथिवी परमाणु का रूप कारणगुणपूर्वक नहीं होता क्योंकि परमाणु का कोई अन्य कारण नहीं है, अतः पृथिवी परमाणु के रूपादि को केवल परमाणु-तेजःसंयोग जन्य—पाकज—माना जाता है)।

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥ ८ ॥

अणु परिमाण का अप्रत्यक्षत्व और महत्परिमाण का प्रत्यक्षत्व चतुर्थाध्याय में बतलाया जा चुका है।

कारणबहुत्वाच्च ॥ ९ ॥

महत्परिमाण की उत्पत्ति (कारण के महत्त्व से, प्रचय अर्थात् आरम्भक शिथिल संयोग से और) कारण के बहुत्व से भी होती है ।

अतो विपरीतमणु ॥ १० ॥

महत्परिमाण से भिन्न परिमाण अणु परिमाण है ।

अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च ॥ ११ ॥

(आमलकादि फल में आम्रादि फल की अपेक्षा) आणुत्व और (आम्रादि फल में आमलकादि फल की अपेक्षा) महत्त्व का व्यवहार तो गौण है, कारण उनमें महत्त्व के प्रकारभेद वर्त्तमान हैं और अणुत्व के लक्षण तो रहते नहीं ।

एककालत्वात् ॥ १२ ॥

(दूसरी बात यह भी है कि) एक ही समय में (आम्रफल में आमलक की अपेक्षा अणुत्व का और फूट-ककड़ी की अपेक्षा महत्त्व के) व्यवहार से भी (यही स्पष्ट होता है कि आम्रफल में वस्तुतः महत्त्व ही है, उसी महत्त्व का कुछ छोटा रूप गौण रूप में अणुपदवाच्य होता और दूसरा रूप महत्त्व पद से अभिव्यक्त होता क्योंकि परस्पर-विरुद्ध अणु और महत्त्व तो एक साथ रह ही नहीं सकते) ।

दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥

(उन्हीं फलों में स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम के) दृष्टान्त से भी उपर्युक्त विषय ही सिद्ध होता है ।

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अणुत्व और महत्त्व में अणुत्व, महत्त्व का अभाव तो गुण तथा कर्म में गुण के अभाव के वर्णन से ही स्पष्ट हो जाता है ।

कर्मभिः कर्माणिः गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥ १५ ॥

और कर्म में कर्म के अभाव तथा गुण में गुण के अभाव की व्याख्या तो पहले ही हो चुकी है (कहीं कहीं व्यवहार में गुण में गुण की सत्ता का कथन, जैसे—महान् शब्दः आदि में तो वस्तुतः लाक्षणिक है) ।

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥ १६ ॥

जैसे अणुत्व और महत्त्व में अणुत्व और महत्त्व नहीं रहते वैसे ही कर्म तथा गुण में भी अणुत्व और महत्त्व का अभाव समझना चाहिए ।

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥ १७ ॥

अणुत्व-महत्त्व की व्याख्या से ह्रस्वत्व तथा दीर्घत्व की भी व्याख्या हो गई ।

अनित्येऽनित्यम् ॥ १८ ॥

(उपर्युक्त चतुर्विध परिमाण) अनित्य द्रव्य में अनित्य होते हैं।

नित्ये नित्यम् ॥ १९ ॥

और नित्य द्रव्यों में नित्य होते हैं।

नित्यं परिमण्डलम् ॥ २० ॥

नित्य (परमाणुपरिमाण) को परिमण्डल (= पारिमाण्डल्य) कहा जाता है।

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥ २१ ॥

अविद्या विद्या का अनुमापक है (अतः आमलक फल आदि में अणुत्व की अविद्या = अप्रमा यथार्थ अणुत्व का अनुमापक होगी)।

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा ॥ २२ ॥

आकाश तथा आत्मा विभुत्ववान् (अर्थात् सर्वव्यापक) होने के कारण (परम) महत्परिमाण से युक्त द्रव्य हैं।

तदभावादणु मनः ॥ २३ ॥

विभुत्व के अभाव से युक्त होने के कारण मन का परिमाण अणु है।

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥ २४ ॥

(सकलमूर्त्तनिष्ठ परत्वादि) गुणों से युक्त होने के कारण दिक् की (व्यापकता और परममहत्परिमाणवत्त्व की) भी व्याख्या हो गई।

कारणे कालः ॥ २५ ॥

इति सप्तमाध्याये प्रथमाह्निकम्।

(जन्य पदार्थमात्र के निमित्त) कारण के लिए काल शब्द के प्रयोग होने से (उसका भी परममहत्त्व तथा व्यापकत्व सिद्ध हो जाता है)।

सप्तम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥ १ ॥

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित काल आदि में भी एकत्व के वर्तमान होने के कारण एकत्व रूपादि से भिन्न ही है।

तथा पृथक्त्वम् ॥ २ ॥

एकत्व के समान पृथक्त्व भी रूपादिभिन्न है।

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ३ ॥

जैसे अणुत्व तथा महत्त्व में अणुत्व और महत्व नहीं रहता वैसे ही एकत्व तथा एकपृथक्त्व में एकत्व और एकपृथक्त्व नहीं रहता।

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥ ४ ॥

कर्म तथा गुणं के (गुणहीन होने के कारण) संख्यारहित होने से सभी कर्म तथा सभी गुणों में एकत्व की स्थिति नहीं होती है।

भ्रान्तं तत् ॥ ५ ॥

('यह एक रूप है' आदि प्रतीतियाँ तो) भ्रान्त हैं (अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग हैं)।

एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते ॥ ६ ॥

द्रव्य में एकत्व का प्रयोग लाक्षणिक है—ऐसा नहीं माना जा सकता, कारण कहीं प्रसिद्ध वस्तु की लक्षणा होती है; यदि एकत्व का वास्तव रूप में द्रव्य में भी अभाव माना जाय तब तो (एकत्व के सर्वथा अभाव होने से कहीं लक्षणा का सम्भव नहीं होगा।

कार्य्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥ ७ ॥

कार्य और कारण के बीच अभेद (एकत्व) और एकपृथक्त्व का साधर्म्य नहीं रहता, अतः कार्यकारणसमूह में एकत्व और एकपृथक्त्व का अभाव होता है।

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

अनित्य एकत्व तथा एकपृथक्त्व कारणगुणपूर्वक होते हैं—यह पहले ही कहा जा चुका है।

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥ ९ ॥

संयोग के प्रतियोगी तथा अनुयोगी में से कहीं किसी एक में क्रिया की उत्पत्ति से, कहीं दोनों में क्रिया की उत्पत्ति से और कहीं कहीं संयोग से भी संयोग होता है।

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥ १० ॥

इसी तरह विभाग की भी व्याख्या होती है।

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अणुत्व और महत्त्व में अणुत्व तथा महत्त्व के अभाव सिद्ध होने से ही संयोग तथा विभाग में भी संयोग और विभाग का अभाव सिद्ध हो जाता है।

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥ १२ ॥

कर्म में कर्म नहीं होता, गुण में गुण नहीं होता है और अणुत्व-महत्त्व में अणुत्व-महत्त्व नहीं होता (ऐसा कहने से ही इन सब में संयोग-विभाग का अभाव भी सिद्ध हो जाता है)।

युतसिद्ध्यभावात् कार्य्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥ १३ ॥

(संयोग सम्बन्ध से भिन्न भिन्न अधिकरण वृत्तित्व स्वरूप) युतसिद्धि के अभाव होने के कारण कार्यकारण का संयोग और विभाग नहीं होता है।

गुणत्वात् ॥ १४ ॥

(शब्द के) गुण होने के कारण (अर्थ के साथ संयोग नहीं हो सकता है। तात्पर्य है कि शब्द भी गुण है और उसका सम्बन्ध यदि अर्थ के साथ संयोग मानें तब तो गुण में भी गुण मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है अतः शब्द-अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं माना जा सकता)।

गुणोऽपि विभाव्यते ॥ १५ ॥

रूप-रसादि शब्द का तो अर्थ भी गुण है (अतः शब्द = गुण, अर्थ = गुण और शब्दार्थसम्बन्ध = गुण अत्यन्त असम्भव है)।

निष्क्रियत्वात् ॥ १६ ॥

(और भी शब्द और अर्थ का संयोग मानें तब तो आकाश शब्द से अर्थ-बोध नहीं होगा कारण आकाश अर्थ के साथ शब्द का संयोग सिद्ध नहीं होता। संयोग अन्यतरकर्मजन्य, उभयकर्मजन्य, और संयोग-जन्य होता है। परन्तु आकाश अर्थ और आकाश (शब्द में दोनों के) निष्क्रिय होने से (अन्यन्तरकर्मजन्य अथवा उभयकर्म-जन्य संयोग नहीं हो सकता अत एव संयोगजन्य संयोग भी नहीं होगा; परिणामतः आकाश शब्द से अर्थप्रतीति नहीं होगी—अतः शब्दार्थ का संयोग नहीं मानना चाहिए)।

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥ १७ ॥

घट पदार्थ के नहीं रहने पर 'नास्ति घटः' ऐसा प्रयोग होता है (इससे स्पष्ट है कि अर्थ के अभाव में भी शब्द है, एवञ्च उपस्थित-अनुपस्थित का संयोग आदि सम्बन्ध कथमपि सम्भव नहीं है)।

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥ १८ ॥

अतः शब्द और अर्थ में परस्पर कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है।

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥ १९ ॥

संयोग सम्बन्ध वाले दण्ड से तथा समवाय सम्बन्धवाले (हस्त आदि) से शब्द का विशेष अर्थात् भेद है; अतः शब्द का अर्थ के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता है)।

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥ २० ॥

(उत्तर पक्ष है :—) शब्द से अर्थ की प्रतीति ईश्वर-सङ्केत से होती है (अतः ईश्वरेच्छा ही शब्दार्थ के बीच का सम्बन्ध है)।

एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरञ्च ॥ २१ ॥

एक ही दिशा में एक ही काल में सन्निकृष्ट (समीपस्थ) और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) पदार्थों में (विप्रकृष्ट में) परत्व और (सन्निकृष्ट में) अपरत्व की प्रतीति होती है। (यह दैशिक परत्व-अपरत्व है)।

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥

(सर्वजन्य पदार्थ) कारणीभूत काल के संयोगाधिक्य से (कालिक परत्व) और काल के संयोगाल्पत्व से (कालिक अपरत्व की प्रतीति होती है)।

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥२३॥

अणुत्व-महत्त्व में अणुत्व तथा महत्त्व के अभाव के व्याख्यान से ही परत्व-अपरत्व में भी परत्व-अपरत्व के अभाव की व्याख्या हो चुकी है।

कर्मभिः कर्माणि ॥ २४ ॥

कर्म में कर्म नहीं होता—इस व्याख्यान से ही कर्म में परत्व-अपरत्व नहीं होता है यह स्पष्ट हो जाता है।

गुणैर्गुणाः ॥ २५ ॥

गुण में गुण के अभाव के वर्णन से ही गुण में परत्वापरत्व का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥ २६ ॥

कारण तथा कार्य में 'कारणे कार्यं वर्त्तते' (कारण में कार्य है) इस प्रकार की प्रतीति जिसके कारण होती है वही समवाय सम्बन्ध कहलाता है।

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥ २७ ॥

सत्ता के समान ही (भिन्नबुद्धिवेद्यत्व हेतु से) समवाय का द्रव्य-गुण से भेद सिद्ध हो जाता है।

तत्त्वम्भावेन ॥ २८ ॥

इति सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

सत्ता के समान ही समवाय भी एक अतएव नित्य है।

सप्तम अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त।

सप्तम अध्याय समाप्त।

अष्टमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

द्रव्य-प्रकरणात्मक तृतीय अध्याय में ज्ञान की व्याख्या हो चुकी है।

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥ २ ॥

द्रव्यों में आत्मा और मन का (और आकाश, काल, दिशा और परमाणु का) प्रत्यक्ष नहीं होता है।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥ ३ ॥

ज्ञान के प्रसङ्ग में ज्ञानोत्पत्ति का प्रकार बतलाया जा रहा है:—

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥ ४ ॥

इन्द्रिय से (परम्परया अर्थात् द्रव्य-द्वारा) सम्बद्ध गुण तथा कर्मों के ज्ञान में द्रव्य कारण है (अर्थात् द्रव्य प्रत्यक्षाधीन द्रव्यनिष्ठ गुणकर्मादि का प्रत्यक्ष होता है)।

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ॥ ५ ॥

सामान्य (अर्थात् द्रव्यादित्रिकवृत्ति सत्ता) और इसके (पृथिवीत्वादि) विशेषरूप में सामान्य और विशेष (पृथिवीत्वादि सामान्यविशेष) के अभाव के कारण उनका प्रत्यक्ष उनके आश्रयभूत द्रव्य प्रत्यक्षाधीन ही हैं।

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ६ ॥

किन्तु द्रव्य, गुण और कर्म के ज्ञान में उन सब में रहने वाले सामान्य विशेष के ज्ञान की अपेक्षा होती है।

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥ ७ ॥

और द्रव्य के ज्ञान की उत्पत्ति में तो उसके विशेषणीभूत द्रव्य, गुण, और कर्म के ज्ञान की भी अपेक्षा होती है।

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥ ८ ॥

गुण और कर्म में गुण तथा कर्म के अभाव रहने के कारण गुण तथा कर्म के ज्ञान की उत्पत्ति में गुण एवं कर्म स्वरूपविशेषण ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है।

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते ॥ ९ ॥

(शंखादि में वर्त्तमान श्वैत्य के) समवायी (= शंखादि) से, श्वैत्य (= विशेषण) से तथा श्वैत्य-ज्ञान (= विशेषण-ज्ञान) से 'श्वेतः शङ्खः' इस प्रकार की प्रतीति होती है। अतः इस प्रतीत्यात्मक कार्य के ये (विशेषण सम्बन्ध, विशेषण तथा विशेषण-ज्ञान) कारण हैं। (तात्पर्य यह है कि विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति विशेषण-सम्बन्ध विशेषण तथा विशेषण-ज्ञान कारण होते हैं)।

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥ १० ॥

(इतर-विशेषण-हीन द्रव्य-प्रत्यक्ष में) किसी द्रव्य का ज्ञान अन्य (= विशेष्यतया असम्बद्ध) द्रव्य के ज्ञान का कारण नहीं होता है।

कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥ ११ ॥

इति अष्टमाध्याये प्रथमाह्निकम्।

(ज्ञानाऽयौगपद्य-प्रयुक्त) कारणाऽयौगपद्य से सिद्ध कारण क्रम के हेतु ही घटपटादि-ज्ञान में पौर्वापर्य है, न कि घट-पट-ज्ञान में कार्य कारण-भाव होने के प्रयुक्त भी (पौर्वापर्य्य है)।

अष्टम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

अष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ १ ॥

'अयम्' यह ज्ञान भी (समीपस्थ वस्तु-) बुद्ध्यपेक्ष है, 'एष' यह ज्ञान भी (दूरस्थ-वस्तु-विषयक) बुद्धि सापेक्ष है, 'त्वया' यह (कर्तृत्वोपरक्त) ज्ञान भी (यह व्यक्ति क्रिया में स्वतन्त्र है इस तरह की) बुद्धि की अपेक्षा रखता है, 'कृतम्' यह (कर्मविषयक) बुद्धि भी (कारणव्यापारविषयकत्व) बुद्धिसापेक्ष है और 'एनम्भोजय' इस प्रकार की प्रतीति भी (भोजनकर्तृ) बुद्धिसापेक्ष है। (अतः विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक ज्ञान में विशेषण तथा विशेष्य दोनों के ज्ञान कारण होते हैं)।

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥ २ ॥

जब (उपर्युक्त अयम् आदि बुद्धियों के विषय) ज्ञात होते हैं तभी (उपर्युक्त बुद्धियों की) उत्पत्ति होती है और जब (उन बुद्धियों के विषय) अज्ञात होते हैं तब (उपर्युक्त बुद्धियाँ) उत्पन्न नहीं होती हैं (अतः उपर्युक्त कार्य-कारणभाव स्पष्ट है)।

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ३ ॥

'अर्थ' शब्द का प्रयोग द्रव्य, गुण तथा कर्म की अभिव्यक्ति के लिए होता है (वैशेषिक दर्शन में)।

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥ ४ ॥

(शरीरादि) द्रव्य में पाञ्चभौतिकत्व का प्रतिषेध तो किया जा चुका है।

भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥ ५ ॥

(एवञ्च) गन्ध-ज्ञापक घ्राण का उपादान पृथिवी ही है क्योंकि घ्राण में पृथिवी वर्त्तमान गन्धग्राहकत्व है, और (सम्पूर्ण शरीर के पार्थिव होने पर भी घ्राण मात्र से गन्धग्रह में घ्राण का द्रव्यान्तरानभिभूत-पार्थिव-परमाणु-जन्यत्वापरपर्याय) भूयस्त्व ही कारण है।

तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ॥ ६ ॥

इति अष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

इसी प्रकार रस, रूप तथा स्पर्श के सम्वादित्व और जलादि भूयस्त्व होने के कारण (जिह्वा, चक्षु तथा त्वक् इन्द्रियों के उत्पादान भी) क्रमशः जल, तेज तथा वायु हैं।

अष्टम अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त।

अष्टम अध्याय समाप्त।

नवमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥ १ ॥

उत्पत्ति से पहले कार्य के लिए गुणवत्त्व, क्रियावत्त्व के व्यपदेश के अभाव होने से (कारण में कारण-व्यापार से पूर्व कार्य का) प्रागभाव सिद्ध होता है।

सदसत् ॥ २ ॥

(कारणव्यापार के अनन्तर उत्पन्न अत एव) सत् (घटादि) पदार्थ भी (मुद्गर-पातादि से) ध्वस्त हो जाता है (अतः ध्वंसाभाव भी सिद्ध हो जाता है)।

असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥ ३ ॥

असत् (अभाव) में क्रियावत्त्व तथा गुणवत्त्व का व्यपदेश नहीं होता (परन्तु सत्-घटादि पदार्थ में गुणवत्त्वादि का व्यपदेश होता है; एवं च (इस स्पष्ट वैधर्म्य के कारण) भावपदार्थ (की एक अवस्था को ही अभाव नहीं मानना चाहिए अपितु उस) को अभाव से भिन्न मानना चाहिए।

सच्चासत् ॥ ४ ॥

सत् (घटादि) भी (पटादिरूपेण) असत् होता है (अतः अन्योन्याभाव भी सिद्ध है)।

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त त्रिविध अभावों से भिन्न अभाव अत्यन्ताभाव है।

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावात् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥ ६ ॥

(योग्य) भूत (अर्थात् उत्पन्नान्तर नष्ट घटादि प्रतियोगी) के अनुपलम्भ (प्रत्यक्षाभाव) से और भूत (प्रतियोगिभूत नष्ट घटादि) के स्मरण से प्रतियोगी के प्रत्यक्ष के समान प्रध्वंसाभाव का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है।

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

भाव (अभावाधिकरण और अभावप्रतियोगी) के प्रत्यक्षयोग्य होने पर प्रध्वंसाभाव की तरह प्रागभाव भी प्रत्यक्ष होता है।

एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ॥ ८ ॥

इसी रीति से "यह घट-भिन्न है," "यह गो-भिन्न है" तथा यह धर्म-भिन्न है आदि अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष भी (योग्याधिकरणवृत्ति होने पर) समझना चाहिए।

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९ ॥

"अभूत है" तथा "यह नहीं है" (उत्पन्न वस्तु अभी नहीं है, ऐसी प्रतीति नहीं अपेक्षित है कारण इस प्रतीति में ध्वंसाभाव का अवगम होता है) ये दोनों ज्ञान समान हैं (अर्थात् जब यह वस्तु नहीं है—इस प्रत्यक्ष प्रतीति से विषयीभूत अत्यन्ताभाव की ही प्रतीति होती है तब अभूत पद से भी प्रतीयमान अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष उसके योग्याधिकरणक तथा योग्यप्रतियोगिक होने से होता है)।

नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ १० ॥

"घर में घट नहीं है" इस ज्ञान में वर्तमान घट पदार्थ का गृहसंयोगमात्र प्रतिषिद्ध है (न कि यह उत्पाद-विनाशशाली चतुर्थ अभाव है। एवञ्च यदि प्रकृतोक्त संयोग-प्रतिषेध त्रैकालिक होगा तब तो गृह में संयोग का अत्यन्ताभाव होगा, यदि संयोग होने वाला है तब प्रागभाव होगा, और यदि भूत होगा तब ध्वंसाभाव होगा)।

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ ११ ॥

(युक्त) योगियों को स्वात्मा तथा परमात्मा के विषय में भी योगज धर्मानुगृहीत आत्ममनः-संयोग से आत्म-मात्र-विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥ १२ ॥

योगज धर्मानुगृहीत आत्म-मनः-संयोग से ही उन्हें सूक्ष्म से सूक्ष्मतर द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष होता है।

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषाञ्च ॥ १३ ॥

और जो असमाहित चित्तवाले (अर्थात् सर्वदा निदिध्यासनहीन वियुक्त योगी) हैं उनका प्रत्यक्ष भी (अनुचिन्तन तथा योगजधर्म से अनुगृहीत आत्ममनःसन्निकर्ष से सकल सूक्ष्म-सूक्ष्मतर पदार्थों के विषय में उत्पन्न होता है)।

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

(प्रत्यक्ष-विषय-द्रव्य में समवेत) कर्म तथा गुण का (प्रत्यक्ष) आत्मसंयुक्त मनः संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से होता है।

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥ १५ ॥

इति नवमाध्याये प्रथमाह्निकम्।

(आत्म-गुण बुद्धि आदि) का प्रत्यक्ष तो मनःसंयुक्तात्मसमवेतत्व सम्बन्ध से होता है।

नवम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

नवमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ १ ॥

कार्य-हेतु (जैसे—वह्न्यनुमान में धूम), कारण-हेतु (जैसे—बधिरकर्तृक शब्दानुमिति में भेरीदण्डसंयोग), संयोगि-हेतु (यथा—त्वगिन्द्रियानुमान में शरीर), विरोधिहेतु (जैसे—आवरणान्तर्गत नकुलानुमान में सर्प-विस्फूर्जन) और समवायि-हेतु (जैसे—तेजोनुमान में जलगत उष्णता) के ज्ञान से 'इस हेतु का यह साध्य हैं', इस प्रकार का ज्ञान अनुमितिज्ञान कहलाता है।

अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद्भवति ॥ २ ॥

(वस्तुतः) अमुक पदार्थ का अमुक पदार्थ व्याप्य है—(जैसे—वह्नि का धूम व्याप्य है) इस प्रकार का ज्ञान ही अनुमापक है, कार्य-करणभावादिसम्बन्धों का (हेतुत्व-व्यवस्थापकत्वेन पूर्व सूत्र में) निर्देश केवल उदाहरण के लिए किया गया है (न कि परिगणन है)।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

अनुमितिज्ञान की व्याख्या से ही (नैयायिकादिसम्मत) शाब्द ज्ञान की भी व्याख्या हो गयी (अर्थात् अनुमान में ही शब्द का अन्तर्भाव हो जाता है अतः उसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानना चाहिए)।

हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥ ४ ॥

हेतु, उपदेश, लिङ्ग, प्रमाण (लिङ्गविधया प्रमाकरण), करण—इत्यादि शब्द पर्याय हैं।

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥ ५ ॥

"इस व्यापक का यह व्याप्य है"—इस बुद्धि पर निर्भर रहने के कारण (उपमान आदि भी पृथक्प्रमाण हैं)।

आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥ ६ ॥

आत्मा तथा मन के (प्रणिधानादि-सन्निधान सहकृत) संयोग-विशेष रूप (असमवायि) कारण से तथा संस्काररूप (निमित्त) कारण से स्मृति होती है।

तथा स्वप्नः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार (आत्म-मनः-संयोग-विशेष तथा संस्कार से) स्वप्न भी होता है। (यह असत्यज्ञान है)।

स्वप्नान्तिकम् ॥ ८ ॥

(इसी तरह स्वप्न-कालीन-अनुभवजन्य-संस्कार से तथा आत्ममनः-संयोग से स्वप्न के मध्य में) स्वप्नान्तिक-ज्ञान भी होता है)।

धर्माच्च ॥ ९ ॥

(स्वप्न तथा स्वप्नान्तिक ज्ञान) अदृष्ट (धर्माधर्म) से भी (होते हैं; जैसे गजारोहणादिविषयक-स्वप्न अथवा स्वप्नान्तिक-ज्ञान धर्मजन्य हैं और पङ्कमज्जनादि विषयक-स्वप्न तथा स्वप्नान्तिक-ज्ञान अधर्म हैं)।

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ १० ॥

(वातपित्तादिप्रकोप-जन्य) इन्द्रिय-दोष तथा (विशेषादर्शनादिरूप) संस्कार-दोष से विपर्ययज्ञान की उत्पत्ति होती है।

तद्दुष्टज्ञानम् ॥ ११ ॥

(अतः सामान्य रूप में) दुष्ट-ज्ञान (अतस्मिंस्तदित्याकारक ज्ञान) ही अविद्या है।

अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

और दोषहीन ('तस्मिंस्तत्' इत्याकारक) ज्ञान ही विद्या है।

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

इति नवमाध्याये द्वितीयाह्निकम्।

ऋषियों का (अतीतानागतपदार्थविषयक) ज्ञान और सिद्ध पुरुषों का मन्त्रादि-प्रभावजन्य-सर्वपदार्थविषयक) ज्ञान धर्म से उत्पन्न होता है। (कुछ लोग इन ज्ञानों को योगजज्ञान से भिन्न नहीं मानते हैं)।

नवम अध्याय में द्वितीय आह्निक समाप्त।

नवम अध्याय समाप्त।

दशमाध्यायः

प्रथमाह्निकम्

इष्टानिष्टकारणविशेषषाद्विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥१॥

इस (स्रक् चन्दन आदि) और अनिष्ट (कण्टकादि) कारणों में परस्पर भेद तथा (एक आत्मा में एक काल में सहावस्थान में) विरोध के कारण सुख तथा दुःख परस्पर भिन्न पदार्थ हैं।

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञातान्तरत्वे हेतुः ॥ २ ॥

(परस्परविरुद्ध कोटिद्वयोपस्थापक) संशय तथा (एककोट्युपस्थापक) निश्चय से भिन्नत्व ही सुख-दुख के ज्ञानभिन्नत्व में प्रमाण है। (तात्पर्य यह है कि सुख तथा दुःख में न तो परस्परविरुद्ध कोटिद्वय को उपस्थिति होती है और न एककोटि का ही उल्लेख होता है; अतः उन्हें संशय या निश्चय रूप में विभक्त ज्ञान से अभिन्न मानना उचित नहीं)।

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥ ३ ॥

सन्देह तथा निश्चय–दोनों ही तथा प्रत्यक्षसामग्रीजन्य तथा अनुमिति-सामग्री-जन्य होते हैं (जब कि सुख-दुख की उत्पत्ति में प्रत्यक्षसामग्री किंवा अनुमिति-सामग्री की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः सुख-दुख को ज्ञान-भिन्न ही मानना चाहिए)।

अभूदित्यपि ॥ ४ ॥

(दूसरी बात यह है कि) अतीतवह्न्यादिविषयक (तथा भविष्यद्वह्न्यादि-विषयक वर्तमानकालिक) अनुमिति होती है (परन्तु अतीतविषयजन्य अथवा भविष्यद्विषयजन्य सुख अथवा दुःख नहीं होता है। अतीतादिविषयसमुत्थ सुख तो तद्विषयोद्भूतसुखानुस्मरण से होता है और स्मरण तो वर्त्तमानकालिक ही रहता है। अतः सुख-दुःख ज्ञान-स्वरूप नहीं हो सकता है।

सति च कार्यादर्शनात् ॥ ५ ॥

(एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा व्याप्तिपक्षधर्मतादि-प्रतिसन्धान के रहने पर क्रमशः प्रत्यक्षज्ञान तथा अनुमितिज्ञान का उद्भव प्रसिद्ध है परन्तु उपर्युक्त) कारणों

के रहने पर भी सुख-दुख की उत्पत्ति नहीं होती है (अतः यह सिद्ध है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा प्रत्यत्न में कार्य-कारणभाव के विपरीत इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा सुख-दुख का कार्यकारणभावाभाव सुख-दुःख के ज्ञानात्मकत्व का प्रतिषेधक है)।

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

(साथ ही यह भी ध्येय है कि) सुख एकार्थ (= एकात्म) समवेत स्वविजातीय असाधारण कारण (धर्म, सुखोपादानयत्न, स्रक्चन्दनादिज्ञान आदि) से जन्य है और दुःख भी एकार्थसमवेत (= स्वसमाधिकरण) स्वविजातीय असारणकारण (अधर्म, कण्टकादिज्ञान) से जन्य है (परन्तु ज्ञान तो स्वसमानाधिकरणस्वविजातीय असाधारण कारणजन्य नहीं है। यद्यपि सविकल्पज्ञान विशेषणविषया स्वसमानाधिकरण-निर्विकल्पकज्ञान-जन्य है तथापि वह निर्विकल्पज्ञान सविकल्पक विजातीय नहीं है क्योंकि ज्ञानत्वजाति निर्विकल्पक तथा सविकल्पक में वर्त्तमान है; इसी प्रकार अनुमिति में कारणविधया अपेपित व्याप्ति—पक्षधर्मतादि-ज्ञान स्वसमानाधिकरण होने पर भी ज्ञानत्वविशिष्ट अनुमिति ज्ञान का विजातीय नहीं है। अतः कारणस्वरूप से भेद के होने से कार्य में भी परस्पर भेद मानना चाहिए)।

एकदेशे इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥७॥

इति दशमाध्याये प्रथमाह्निकम्।

शरीर से एकदेश (=अवयव)—शिर, पृष्ठ, उदर, मर्म आदि के उपादानभूत परमाणु-द्व्यणुकादि में (परमाणुत्वेन और द्व्यणुकत्वेन साधारण होने से यद्यपि यह प्रतीत होता है कि कारण-भेद नहीं है और इसलिए वहाँ सभी अवयवों में परस्पर भेद नहीं होना चाहिए, परन्तु कारण साजात्य रहने पर भी शिरो-हस्तादि मे भेद सर्वानुभव-सिद्ध है, अतः कारणसाजात्य और कारणवैजात्य में भेदप्रयोजकत्व नहीं होना चाहिए, तथापि विचार करने पर यह स्पष्ट है कि परमाणुत्वादि धर्म से सबों के उपादान में साजात्य होने पर भी) प्रत्येक परमाणु में भेदकत्वेन वर्त्तमान विशेष के हेतु (पृष्ठोपादान-परमाणु जिन विशेषों से युक्त है उन विशेषों से युक्त शिर-उपादान-भूत-परमाणु नहीं है अतः तत्तद्विशेषविशिष्ट रूप से प्रत्येक अङ्ग के उपादान-परमाण्वादि में वैजात्य वर्त्तमान है और इस तरह) कारण वैजात्य से ही शिरः-पृष्ठादि में परस्पर भेद है।

दशम अध्याय में प्रथम आह्निक समाप्त।

दशमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

कारणमिति द्रव्ये कार्य्यसमवायात् ॥ १ ॥

द्रव्य में ही उसके कार्य-भूत (अवयविद्रव्य, गुण, क्रिया आदि) के समवाय होने से द्रव्य ही समवायिकारण होता (और इसीलिए द्रव्य के लिए ही समवायि-कारण शब्द का प्रयोग होता) है।

संयोगाद्वा ॥ २ ॥

(पट के समवायि-कारण तन्तु में) संयुक्त होने के कारण (तुरी आदि द्रव्य पट का निमित्तकारण) भी (होता है)।

कारणे समवायात् कर्माणि ॥ ३ ॥

(समवायि) कारण में समवेत होने से कर्म (संयोग, विभाग आदि के कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति से असमवायि कारण होते हैं)।

तया रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च ॥ ४ ॥

(अवयविद्रव्यगत रूप के प्रति अवयवद्रव्यनिष्ठ) रूप कारणैकार्थसमवाय (= स्वसमवायि-समवेतत्व) सम्बन्ध से (असमवायि-कारण होता है)।

कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ॥ ५ ॥

(पट के समवायिकारण) तन्तुओं से समवेत होने के कारण (तन्तुओं का परस्पर) संयोग (कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति से ही असमवायिकारण होता है)।

कारणाकारणसमवायाच्च ॥ ६ ॥

(तूल = रूई के पिण्ड के अवयवों में वर्त्तमान प्रचय नाम का शिथिल संयोग) स्व (= संयोग) समवायि (= तूलावयव) समवेत (= तूलपिण्ड) समवेतत्व सम्बन्ध से (तूलपिण्ड-समवेत-महत्व का असमवायि-कारण होता है)।

संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥ ७ ॥

अग्नि का वैशेषिक गुण (= उष्णत्व) (स्व-समवायि = अग्नि) संयुक्त (पाकज-रूपादि-समवायि घटादि) समवेतत्व सम्बन्ध से (घटादि पदार्थगत पाकज-रक्तरूपादि का निमित्त-कारण होता है)।

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥ ८ ॥

प्रामाणिक (तथा अनुपदिष्टफलक दानादि) कर्म और उपदिष्ट-प्रयोजनक (स्वर्ग-

प्रापक अग्निहोत्रादि) कर्म के विषय में (साधारण पुरुष) दृष्ट (भ्रम प्रमादादि) के अभाव होने से इन कर्मों का अनुष्ठान अपूर्वोत्पादक होता है ।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥ ९ ॥

इति दशमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

इति श्रीमन्महर्षिकणादविरचितं वैशेषिकसूत्रं समाप्तम् ।

(उपर्युक्त कर्म भ्रमप्रमादादिशून्य इसलिए माने जाते हैं कि उनका उपदेश निर्दुष्ट वेदवाक्यों द्वारा होता है और) उन वेदवाक्यों का प्रामाण्य (= निर्दोषत्व) तो उनके (दोषहीन अपरिसंख्येय गुणयुक्त होने के कारण तत् पद से निर्देश्य) ईश्वर के वचन होने के कारण ही है । (एवञ्च निर्दोष ईश्वर के वचन होने से वेद का प्रामाण्य, और वेद-प्रामाण्य से कर्मानुष्ठान तथा उसके फल का प्रामाण्य सिद्ध होता है; परन्तु चिरध्वस्त यज्ञादि कर्म का चिरकालान्तर प्राप्य स्वर्गादि फल के साथ कार्यकारणभाव के उत्पन्न नहीं होने से उन कर्मों से अपूर्व की उत्पत्ति फलोत्पादन के निमित्त माननी चाहिए—यह अभिप्राय है) ।

दशम अध्याय से प्रथम आह्निक समाप्त

दशम अध्याय समाप्त ।

श्रीशङ्करकृपोद्भूतं शङ्करोक्तिसमाश्रितम् ।
रसर्तुग्रहचन्द्राब्दे नारायणविनिर्मितम् ॥
शिशूनां प्रविविक्षूणामाचार्यपथगामिनाम् ।
कणाददर्शनस्येदं भूयाद् भाषान्तरं मुदे ॥

इति श्रीनारायणमिश्रविरचिता हिन्दी व्याख्या समाप्ता

वैशेषिकसूत्रानुक्रमणिका

नवीन प्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ

१ श्रीमद्भगवद्गीता (गीता) मधुसूदन सरस्वती कृत संस्कृत टीका तथा सनातन देव कृत हिन्दी टीका (१९८२) १५०-००

२ नामलिङ्गानुशासनम् नाम अमरकोशः (कोश)। अमरसिंह कृत। भानुजी दीक्षित (रामाश्रय) कृत 'रामाश्रमी' (व्याख्यासुधा) संस्कृत टीका तथा हरगोविन्दशास्त्री कृत 'मणिप्रभा' (प्रकाश) हि० टीकादि :
राज संस्करण २५०-०० कार्ड बोर्ड संस्करण १५०-००

३ काव्यप्रदीपः। म० म० श्रीगोविन्दप्रणीतः। वैद्यनाथ कृत टीका। पं० दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर सम्पादित- (१९८२) ५०-००

४ वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः। स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि विरचित। (१९८२) १५०-००

५ हरविजयम्। राजानक रत्नाकर विरचित। राजानक अलक कृत टीका सहित। पं० दुर्गाप्रसाद एवं काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब (१९८२) १००-००

६ चम्पूरामायणम्। राजाभोज कृत १-५ खण्ड तक, लक्ष्मणसूरि कृत छठवाँ खण्ड। रामचन्द्रबुधेन्द्र कृत टीका। वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर सम्पादित। (१९८२) ५०-००

७ भामिनीविलासः (काव्य) जगन्नाथ कृत। राधेश्याम मिश्र कृत 'प्रकाश' हिन्दी टीका। अन्योक्ति विलास-प्रस्ताविक विलास २५-००
सम्पूर्ण ७५-००

८ कामसूत्र (कामशास्त्र)। वात्स्यायन मुनि कृत। यशोधर कृत 'जयमङ्गला' संस्कृत। देवदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीकादि (१९८२) १५०-००

९ नारदसंहिता (ज्योतिष)। नारद महामुनि कृत। सान्वय, विमला हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार-राम जन्म मिश्र (१९८२) ६०-००

१० नाट्यशास्त्रम् (नाट्य)। भरतमुनि कृत। सं० बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय संशोधित (१९८२) सम्पूर्ण १००-००

११ योगसूत्र। (योग) पतञ्जलि कृत। भोजराज कृत 'राजमार्तण्ड'-भावागणेश कृत 'प्रदीपिका'-नागोजि भट्ट कृत 'वृत्ति' रामानन्द यति कृत-'मणिप्रभा' अनन्त देव कृत 'चन्द्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योगसुधाकर' छः टीका। विस्तृत हिन्दी भूमिका डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी (१९८२) ५०-००

प्राप्तिस्थान— चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पो. बा. ११३९ वाराणसी-१